12

डायोजिनीज़

समाज दर्शन
एवं
मानववादी अध्ययन
की
अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका
से
चुने हुए
अनुवाद

डायोजिनीज़

दर्शन तथा मानविकीय अध्ययनों की
अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका से प्रस्तुत चयनिका

(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

प्रधान सम्पादक :

दयाकृष्ण
पूर्व–प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सम्पादक मण्डल :

आर. सी. द्विवेदी
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

वी. आर. मेहता
कुलपति, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

एन. के. सिंघी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मुकुन्द लाठ
एसोसियेट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

यशदेव शल्य
फैलो, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

प्रबन्ध सम्पादक :

के. एल. शर्मा
एसोसियेट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मूल पत्रिका का सम्पादक मण्डल

JEAN d' ORMESSON
Chief Editor diogenes (del' ACADE'MIE FRANCAISE)
M. V. ALPATOV (USSR)
C. CHAGAS (BRAZIL)
E. CONDURACHI (RUMANIA)
B. DADIÉ (IVORY COAST)
F. GABRIELI (ITALY)
T. KUWABARA (JAPAN)
A. LAROUI (MOROCCO)
J. STAROBINSKI (SWITZERLAND)

डायोजिनीज़ (यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

ख्याति प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका Diogenes से दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर चुने हुए लेखों का हिन्दी में अनुवाद। Diogenes अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक तथा मानविकी परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका है जो यूनेस्को की सहायता से अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, स्पेनिश तथा अरबी भाषा में प्रकाशित होती है।

प्रत्येक अंक का मूल्य :	पुस्तकालयों के लिये	: 10 रु.
	विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिये	: 05 रु.

पता : **डॉ. के. एल. शर्मा**
प्रबन्ध सम्पादक
C-207, अरविन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर 302 004 (राजस्थान)

डायोजिनीज़ (यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

छठवें से ग्यारहवें अंक में निम्न लेखों का चयन है :

अंक 6.
1. मुकुंद लाठ— रूपान्तरण ही सर्जन
2. कृपालसिंह— तकनीकी और आधुनिक उपन्यास : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
3. दया कृष्ण— ईश्वर तथा मानव चेतना
4. डोनाल्ड आस्ट्रव्स्की— ऐतिहासिक सिद्धान्तों का प्ररूप निरूपण
5. श्रीरमा इन्द्रदेव— भारत के पारम्परिक सामाजिक संस्तरण के स्वरूप का विकास : विभिन्न कालों की प्रक्रियाओं का विश्लेषण

अंक 7.
1. दयाकृष्ण—ईश्वर तथा राष्ट्रीय सरकार
2. फ्रान्कॉय शेने— कर्म और ज्योतिष : भारतीय मानव शास्त्र का एक अज्ञात पक्ष
3. लांसाना केईटा— समकालीन अफ्रीकी दर्शन : प्रणाली की खोज
4. केनेथ की बटलर— पैर बांध रखने की प्रथा, शोषण और अनीति : एक गैर मार्क्सवादी अवधारणा
5. दया कृष्ण— तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिये

लेज़र टाइपसैटिंग : स्पायर, एस-12, तिलक नगर, जयपुर
संख्या 12 • 1988 • रूपा ऑफसेट प्रिन्टर्स, जयपुर 302 004

विषय-सूची

1.	शान्ति का प्रत्यय तथा मानवता का प्रत्यय	: क्लोद लैफोर	1
2.	जातियों का उद्गम एवं उनकी विविधता पर नवीन सामग्री : आनुवांशिकी का योगदान	: आंद्रे लांगनै	21
3.	पैरललॉजिक : बुद्धि और संदर्भ का सामना	: बारबारा गेल हानसन	32
4.	टोकरी, केश, देवी और जगत : दक्षिण भारतीय प्रतीकवाद पर एक निबन्ध	: जैकी ऐसायग	48
5.	मार्क्स और इतिहास	: एरिक जे. हॉब्सवॉम	73
6.	साहित्य के बहुपठन और एकल विज्ञान	: ज्यौं-क्लोद गार्दें	86

अंक 8. 1. जान मेरेजको– दिक् और कामना

2. जैकलीन डी रोमीला– साहित्य और साहित्यिक अध्ययन – एक परिभाषा की खोज

3. गिओवन्नी बूसिनो– समाज का संकट

4. दिनेश चन्द्र माथुर– विकल्पहीन बोध, रचनात्मक शून्यता एवं अन्तिम स्वातंत्र्य पर जे. कृष्णमूर्ति

5. रूफी– विकास की धारणा का विकास

अंक 9. 1. इवान्द्रो अगासी– विज्ञान के ऐतिहासिक आयाम और उसका दर्शन

2. पिअर ऑवेन्के– सत्य और संशयवाद

3. इवान्गेलौस ए. मूत्सोपूलो– कला का सत्य

4. ज्यॉं औदूगे– क्या ब्रह्माण्ड बदल रहा है ?

5. फौजी बोबिया– सार्वलौकिक साहित्य और अन्य की समस्या

6. ज्यॉं हामबुरगर– जीव विज्ञान और चिकित्साशास्त्र में चिन्तन की विधा

अंक 10. 1. श्रीरमा इन्द्रदेव– कर्म का सिद्धान्त : एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की ओर

2. गिल्लीस लेपोग्– लपटों से घिरी पुस्तकें

3. रोनाल्ड बोनन– देहांतर पर

4. जिआं ब्रूनो रेनार्ड– आकस्मिक संयोज का विचार दृष्टिकोण व अन्ध विश्वास

5. डब्ल्यू. किम रोजर्स– मानव जीवन के अध्ययन के लिये एक पद्धति

अंक 11. 1. वीरेन्द्र शेखावत– विज्ञानीय बौद्धिकता के वैकल्पिक प्रारूप : प्राचीन भारतीय विज्ञानों में सैद्धान्तीकरण का रूप

2. मैसे केबेड– बर्गसौं के 'चिरन्तन वर्तमान' की अवधारणा की ओर मार्ग

3. पीटर पोर– शताब्दी का अन्त, 'एक विश्व शैली' का अन्त ? समकालीन कला में विषय की अवधारणा

4. कार्ल आर. पॉपर– विज्ञान और कला के अन्तर्गत रचनात्मक आत्मालोचन

5. श्रीरमा इन्द्रदेव– भारतीय परम्परा का विकास : पराभूत संस्कृतियों द्वारा प्रत्याक्रमण का परिदृश्य

लेखक परिचय

1. **क्लोद लैफोर** : 1924 में जन्म। एकोल द ओत सेत्युद आं सियेंस सोस्यिल में प्रोफेसर। मॉर्ले पोन्ती के शिष्य; पोन्ती की मृत्यु के उपरान्त उनके ग्रन्थों को सम्पादित किया। फिनोमैनोलॉजि, राजनीतिदर्शन, समाजशास्त्र एवं नृतत्त्वशास्त्र से सम्बन्धित अनेक लेख एवं पुस्तकें लिखीं। उनमें से प्रमुख हैं : **एलेमेन्त द्युन क्रितिक द ला ब्युरोक्रटि, लेत्रोवेल द लूव्र मिकियावेल लॉवेन्स्योन दे मोक्रातीक,** उनकी हाल की रचनाएँ आधुनिक प्रजातंत्र से सम्बन्धित हैं।

2. **आंद्रे लागनै** : जैनेटिक्स, व्यावहारिक गणित एवं मानव जनसंख्या से सम्बन्धित अध्ययन किया। म्यूज़े द लौम के उपनिदेशक हैं। यूनिवर्सिते द गैनेज में जीव-विज्ञान के प्रोफेसर। **इस्तोआर नात्युरेला द ला सैक्सुआलिते,** नाथान 1977; **ले ज़ामूर दे प्तीतबेपत** (जी मेयर्गे आदि के साथ), नाथान 1978; **ले सैक्स ए लैंनोवासियों सेयोल** आदि पुस्तकें लिखी हैं।

3. **बारबारा गेल हानसन** : समाजशास्त्र में पीएच. डी.; वाटरलू विश्वविद्यालय (कनाडा) में समाजशास्त्र के सहायक प्रोफेसर। उनका शोध प्रमुख रूप से मानसिक रुग्णता, सामाजिक संदर्भ एवं परिवार की गतिशीलता के क्षेत्र में सिद्धान्त और पद्धति के सम्बन्ध को लेकर है।

4. **जैकी ऐसायग** : 1951 में जन्म। नृजाति-विज्ञान से सम्बन्धित अपने अध्ययन हेतु अनेक बार भारतवर्ष की यात्रा की। उन्होंने कर्नाटक राज्य में प्रचलित उपासन पद्धति, पर्वों एवं धार्मिक जटिलताओं को लेकर सामाजिक नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से शोध किया। इसी क्षेत्र के सामाजिक-राजनैतिक इतिहास का भी अध्ययन किया। सैन्त्र देत्युदे द लैंद ए द लाज़ी द्यु स्युद (ई. एच. ई. एस. एस./सी. एन. आर. एस.) से जुड़े हुए हैं।

5. **एरिक जे. हॉब्सवॉम** : 1917 में जन्म। लंदन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और सामाजिक इतिहास के प्रोफेसर। कलाओं और विज्ञानों की ब्रिटिश अकादमी और अमेरिकन अकादमी में फैलो। उनकी पुस्तकें हैं : **प्रिमिटिव रिबैल्स; दि ऐज ऑव कैपिटल 1848-1875** (इस पुस्तक का अनुवाद कई भाषाओं में प्रकाशित हुआ है) । स्टोरिआ डेल मार्क्सिज़्मो, 5 खण्ड, ट्यूरिन के 1978-1982 तक सम्पादक रहे और उसमें लेख लिखे।

6. **ज्यौं-क्लोद गार्दें** : 1925 में जन्म। सी.एन.आर.एस. में शोध निदेशक। एकोल द ओत सेत्युद आँसियेन्स सोस्योल के निदेशक। उनके अध्ययन के क्षेत्र हैं : सेन्ट्रल एशिया का पुरातत्त्व (ला देलेगासियोन आर्केओलोज़ीक फ्रान्से आँ अफगानिस्तान के अध्यक्ष हैं); कृत्रिम बुद्धि को लेकर मानव-विज्ञानों में ज्ञानमीमांसीय समस्याएँ ।

अनुवादक परिचय

1. **डॉ. (कुमारी) छाया राय** : (जन्म 1946) : पुस्तकें : **काण्ट का नीतिदर्शन, स्टडीज इन फिलॉसोफीकल मैथ्डस्।** लगभग 60 शोध पत्र प्रकाशित। **सम्प्रति** : रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.) में दर्शनशास्त्र की प्रोफेसर।

2. **डॉ. धनराज चौधरी** : पेशे से भौतिकशास्त्री। डॉ. चौधरी हिन्दी के जाने-माने लेखक भी हैं, **प्रवाह** और **तीसरा पहर** उनके उपन्यास हैं। **गौतम बुद्ध और दुखी आत्मा** (व्यंग्य संकलन), **ब्रह्माण्ड का रहस्य** उनकी नवीनतम प्रकाशित कृति है। डॉ. चौधरी ने भौतिकशास्त्र की भारतीय और विदेशी पत्रिकाओं में लेख लिखें हैं। शोध के लिये दो बार इटली भी गये। **सम्प्रति** : राजस्थान विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्र विभाग में एसोसियेट प्रोफेसर।

3. **डॉ. वीरेन्द्र शुक्ल** : लम्बे समय तक हिन्दी अध्यापन से जुड़े रहे। 1957 से 1980 तक हिन्दी-अनुवादक के पद पर मास्को में कार्य किया। रूसी-साहित्य के आठ ग्रन्थों का अनुवाद और इतनी ही संख्या में विभिन्न पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों का सम्पादन किया। डॉ. शुक्ल 1985 तक विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के मुद्रणालय और अनुवाद विभाग से जुड़े रहे।

4. **डॉ. वीरेन्द्र सिंह** : इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम. ए. (हिन्दी) और पीएच. डी.। **हिन्दी कविता में प्रतीकवाद, विज्ञान दर्शन, मिथक दर्शन** आदि लगभग ग्यारह पुस्तकों के लेखक; जाने माने आलोचक डॉ. सिंह अपनी रचनाओं के लिए पुरस्कृत भी हो चुके हैं। **सम्प्रति** : राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एसोसियेट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत।

5. **डॉ. सरला कल्ला** : राजस्थान विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम. ए. और पीएच. डी.। विधि-दर्शन पर शोध प्रबन्ध लिखा। दर्शन की पत्रिकाओं में अनेक लेख। **सम्प्रति** : राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में सहायक प्रोफेसर के पद पर कार्यरत।

6. **श्रीमती उमा भार्गव** : राजस्थान विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम. ए.। **सम्प्रति** : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर में कार्यरत।

1

शांति का प्रत्यय तथा मानवता का प्रत्यय *

क्लोद लैफोर

आज, सार्वभौमिक शांति के प्राचीन, पूर्णरूपेण निरूपित आदर्श के स्थान पर शांति के परम मूल्य की पुष्टि का स्थानापन्न करने की प्रवृत्ति है। यदि मैं गलत नहीं हूँ, तो यह सूत्र इस नई अत्यावश्यकता की ओर संकेत करता है कि इस दार्शनिक कार्य को किस प्रकार संपादित किया जाये, अर्थात् शान्ति के प्रत्यय को ऐसा आधार किस प्रकार दिया जा सकता है जो एक ओर केवल उस तात्कालिक सोच विचार पर आधारित न हो जो एक नये विश्वयुद्ध के विनाशकारी परिणामों के संकट के बोझ से भयभीत करने वाला हो तथा दूसरी ओर जो आदर्श समाज उन भ्रामक कल्पनाओं से भी मुक्त हो जो सतत् शान्ति की योजनाओं की जनक है। फिर भी उनमें से कुछ कठिनाईयों से जिनसे वर्तमान प्रवृत्ति सम्बन्धित है, परम मूल्य के रूप में शांति की परिभाषा की एक झलक मिलेगी। मैं सोचता हूं कि स्वयं अपने लिए रास्ता साफ करने के उद्देश्य से, इस परिभाषा का संक्षेप में परीक्षण करना बुद्धिमतापूर्ण होगा।

दार्शनिक संदर्भ में मूल्य का प्रत्यय, चिंतन के एक आधुनिक तरीके से उत्पन्न होता है। विगत शताब्दी के पूर्व, दर्शन में इसकी खोज व्यर्थ होगी। यह एक ऐसे विषयी के संदर्भ की पूर्वापेक्षा करता है, जो किसी बाह्य आधार के अभाव में, वांछनीय तथा अवांछनीय, शुभ तथा अशुभ, सुंदर एवं कुरूप के विभेद के सिद्धांत को स्वयं अपने आप से प्राप्त करता है। निसंदेह कांट के सिद्धान्त में एवं उस

---

* Claude Lefort : The Idea of Peace and the Idea of Humanity, ***Diogenes;*** No. 135, Fall 1986, pp. 11-28.

अनुवाद : छाया राय

सिद्धांत द्वारा स्थापित सैद्धान्तिक बुद्धि एवं व्यावहारिक बुद्धि के विभाजन में, मूल्य की आधुनिक अवधारणा के आधार वाक्यों की खोज करना आकर्षक है। किन्तु पुनः हमें सहमत होना होगा कि वहां कांट का सिद्धान्त असंगत है, क्योंकि कांटीय विषयी अपने स्वयं के संकल्प में एक निरूपाधिक आधार का संकेत पाता है, उस स्थिति में भी जब वह ज्ञान के क्षेत्र से बाहर रहता है। सामान्यतः जब तक प्रकृति, बुद्धि अथवा ईश्वर के संदर्भ में मानवीय आचरण के एक मानक के विचार की पुष्टि नहीं हो जाती, तब तक मूल्य की धारणा अर्थ अर्जित नहीं कर सकती है। आगे यह भी जोड़ें कि इतिहास के दर्शनों, चाहे वे हेगलीय हों अथवा मार्क्सवादी, के लिये मूल्य की अवधारणा तब भी अप्रासंगिक थी। इतिहास को चाहे आत्मा की अपनी पूर्णता तक पहुंचने की प्रक्रिया के रूप में समझें, अथवा उन अन्तर्विरोधों की श्रृंखला के अंत में मनुष्य की सामाजिक वृत्ति की निष्पत्ति के रूप में, जिन अन्तर्विरोधों को तकनीक एवं वर्ग का विकास उत्पन्न करता है, दोनों ही दशाओं में ज्ञान की स्थिति प्रभावी वास्तविक प्रक्रिया से उद्भूत उस ज्ञान के रूप में, जिसके पास इस प्रक्रिया की कुंजी है, विषयी की स्वेच्छाचारिता को बहिष्कृत करती है। मूल्यों की शब्दावली में चिंतन की नवीन प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिये हमें इनकी अपेक्षा नीत्शे की ओर मुड़ना होगा, क्योंकि उसका कार्य समस्त मानदंडों के योजनाबद्ध विध्वंस को समाविष्ट करता है। किन्तु मेरा उद्देश्य मूल्य की अवधारणा का ऐतिहासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं है। मैं यह संकेत करने से संतुष्ट हो जाऊंगा कि यह (मूल्य की अवधारणा) 19वीं शताब्दी में, तथा उससे भी अधिक 20वीं शताब्दी में, दर्शन और मानवीय-विज्ञानों में तीन कारणों से आई। प्रथम अस्तित्व की नवीन अवधारणा का अनुमोदन करने के लिए । एक ऐसी अवधारणा का अनुमोदन करने के लिये जो सार्थक एवं निरर्थक के प्रमाण की सीमाओं के भीतर संभव है, तथा जो बाद में अस्तित्ववाद का नाम प्राप्त करेगा। द्वितीय, विश्व दृष्टिकोणों या मतों की ऐतिहासिक सापेक्षता के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये, जो ऐतिहासिकतावादी (हिस्टोरीसिज्म) पुकारा जायेगा । तृतीय, संस्कृतियों की अपरिवर्तनीय अनेकता के सिद्धान्त जिसका अंत सांस्कृतिक नृतत्त्व-विज्ञान होगा- का अनुमोदन करने के लिये। किसी ने भी इस त्रिपक्षीय अस्तित्ववादी, ऐतिहासिकतावादी एवं समाजशास्त्रीय प्रेरणा के प्रति मैक्स वेबर से बेहतर प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की है, यद्यपि उसके द्वारा किये गये अनुसंधान का बाहुल्य दर्शाता है कि समय-समय पर वह इससे बचने में सक्षम था। बेबर ने सापेक्षवाद को उसके सभी रूपों में अर्थात् मूल्य की स्वेच्छाचारिता को क्रमशः एवं युगपत रूप से व्यक्ति को सौंपते हुए, (विशेषतः इतिहासज्ञ को निर्दिष्ट करते हुए, जो अपने ज्ञान का विषय उस वास्तविकता से निर्मित करता है जो बिना आकार के अपने

को आंकती है) प्रत्येक युग को निर्दिष्ट करते हुये जो विचार एवं कर्म को एक विलक्षण परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है; प्रत्येक संस्कृति को निर्दिष्ट करते हुये जो स्वयं के सार से दृश्य एवं अदृश्य के अनुभव के उत्पादक प्रतीकों को निर्गमित करती है, पराकाष्ठा तक पहुंचाया। परिणामस्वरूप उनके अध्ययन पर शुभ एवं अशुभ, उचित एवं अनुचित या, यहां तक कि सत्य एवं मिथ्या की किसी भी सार्वभौमिक कसौटी को अस्वीकार करने की दुराग्रही उद्विग्नता की छाप है। उपर्युक्त भेद केवल ज्ञान के विषय या वस्तु की संरचना के अधीनस्थ होने की दशा में ही प्रामाणिक है। जैसा कि हम अभी–अभी कह चुके हैं, यह विषयी के मूल्यों की शब्दावली के अतिरिक्त अन्य तरह से संपन्न नहीं किया जा सकता। यदि वेबर की चर्चा करने को बुद्धिमतापूर्ण समझता हूँ, तो यह केवल इसलिये कि यह चिंतक, जो एक व्यक्ति के रूप में कतई लड़ाकू नहीं है, फिर भी मूल्यों की विविधता में जैसे कि वे मनुष्यों, राष्ट्रों अथवा संस्कृतियों द्वारा निरपेक्ष रूप से स्वीकार किये जाते हैं— सतत संघर्ष का कारण पाता है। वेबर के अनुसार, मानवता की नियति विसंवादी स्थिति होगी, क्योंकि वह देवताओं के बीच अशमनीय युद्ध का रंगमंच होगी, जैसा कि उसका सुप्रसिद्ध सूत्र प्रस्तुत करता है।

यदि हम कुछ इतिहासज्ञों एवं नृतत्व–वैज्ञानिकों की समकालीनम रचनाओं पर ध्यान दें, तो हम देखते हैं कि वेबर की सर्वत्रासमयता दुर्भाग्यवश एक ऐसे अस्पष्ट सापेक्षवाद के लाभ के सम्मुख अपनी अपील को खो चुकी है, जो सापेज्ञवाद उसके सिद्धान्तों, साथ–ही–सीथ उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक परिणामों पर किये जाने वाले चिंतन मनन का बहिष्कार करती है।

मैंने दीर्घकाल तक यह सोचा है कि वेबर ने वैज्ञानिक समुदायों के बाहर एक ऐसे विमर्श को पोषित किया, जिसमें सभी अभिमत, सभी विश्वास, सभी निर्णय अच्छे थे, बशर्ते वे उनकी–जो उन मूल्यों को मानते थे– सच्ची निष्ठा को प्रमाणित करते हों। इस विमर्श को इस नारे में सार रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि "प्रत्येक को उसका मूल्य।" अब जहां तक दूसरे की पहचान के विचार की बात है, आत्मकेन्द्रितता, नृजातिकेन्द्रवाद (विशेषतः यूरोकेन्द्रवाद) की आलोचना का एक सुदृढ़ आधार है, और, परिणामतः सहिष्णुता को सिद्धान्ततः अधिष्टित किया जा सकता है। निरंकुश सापेक्षवाद समस्त छल–कपट तथा, और अधिक सटीक शब्दों में, दमन की समस्त प्रणालियों को वैध सिद्ध करने वाले सिद्धान्त के रूप में देखा जाता है, जो दमन की प्रणालियां किसी जाति की शुद्धता, किसी राष्ट्र की अखंडता अथवा वर्गहीन समाज की स्थापना की परिचर्चा में संलग्न नैतिकता के आवरण के नीचे, ऐसे व्यक्तियों

तथा समूहों के प्रति कठोर होती हैं जिनकी विशेषतायें उनके सही प्रतिमान के अनुरूप नहीं समझी जाती हैं। निस्संदेह यह तुच्छ है, फिर भी यह याद रखना आवश्यक है कि दूसरे की आक्रामक असहिष्णुता में सहिष्णुता अपनी सीमाओं को छूने लगती है। सर्वाधिकार तंत्र के सभी रूपों की आलोचना व्यर्थ होगी यदि उसे स्वाधीनता के शासन की तथ्यात्मक वरीयता का कथन मान लिया जाय। सापेक्ष का बोध स्वतंत्रता को मिटाता नहीं, अपितु एक सार्वभौमिक अत्यावश्यकता को सूचित करता है। संयुक्त राष्ट्र की मानव–अधिकारों की घोषणा, इस आधारभूत संयोजन–जो निश्चित रूप से कठिन है, किन्तु जिसे एक तथा दूसरे के बीच विघटित करना असंभव है– की साक्षी है।

इस प्रकार एक परम मूल्य के रूप में शांति का प्रत्यय, मुझे हमारे समय के दार्शनिक अनुसंधान के केन्द्र को स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। 'मूल्य' शब्द एक ऐसी गारंटी का उल्लेख करने की असंभावना का आश्रय लेने का प्रमाण है, जिसे सभी— प्रकृति, बुद्धि, ईश्वर, इतिहास–के द्वारा माना जाता हो। यह एक ऐसी परिस्थिति का संकेत है जिसमें उत्कर्ष की सभी आकृतियां धुंधली हैं। किन्तु परम की भंगिमा में प्रस्तुत शांति के मूल्य को एक ऐसे आधार की आवश्यकता है, जो समस्त सापेक्षतावादी व्याख्या से बच निकलता हो। यहां हमारी परिचर्चा का इस तरह का नियत कार्य हो सकता है कि हम इस आधार की दिशा में अन्वेषण करने का प्रयत्न करें; हमारी वर्तमान स्थिति से जी चुराये बिना जो प्रतीक हमें एक झलक पाने की अनुमति देते हैं, उनका अनुसंधान करें और जो, स्पष्ट रूप से, भूतपूर्व विश्वासों, जो अब भूतपूर्व विश्वासों पर आधारित नहीं हैं तथा जो तथ्य–परक प्रमाण के द्वारा दुःखद रूप से चरमरा चुके हैं, पर और अधिक समय तक निर्भर न रहने का आह्वान करते हैं।

चाहे मैं सुदूर भूतकाल में उद्भूत हुये उन सिद्धान्तों पर किये जाते तात्कालिक आक्रमणों में जो कुछ भी व्यर्थ है, उसके प्रति कितना भी सचेत होऊं– क्योंकि यह निश्चित है कि उन सिद्धान्तों की मौलिकता को स्वीकार करने के लिये हमें इस बौद्धिक चर्चा को जागृत करना होगा कि वे कहां से आये, और इससे भी अधिक हमें उस विश्व के 'क्षितिजों' को खोलना या दर्शाना होगा, जो उनका था— सर्वप्रथम, मैं एक ऐसे कार्य को प्रारंभ करने का जोखिम उठाऊंगा, जिसके विषय में मैं यह विश्वास करता हूं कि वह धर्मनिरपेक्ष तथा राजनीतिक शब्दावली में, निश्चित रूप से एक परम मूल्य के रूप में नहीं (तब परम मूल्य की धारणा अस्तित्व में नहीं थी), अपितु समस्त मानवों की भलाई के रूप में, शांति के प्रत्यय को सूत्रबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। यह दांते की 'मौनार्किया' है। उस समय जब–फ्लोरेन्स और

इटली सामान्यतः बहुदलीय गुटबन्दी के निरंतर संघर्षों के घटना स्थल थे, तब दांते ने एक सार्वभौमिक राजतंत्र की स्थापना के द्वारा चिरस्थायी शांति को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता दर्शाने का बीड़ा उठाया। दांते की रचना, सदियों से चले आ रहे उस विचार विमर्श के उपाख्यान में उल्लिखित की जाती रही है, जो लौकिक क्रम में, सम्राट तथा पोप के निजी दावों के आकलन से जुड़ा है। दांते ऐसा करके ईश्वरमीमांसा एवं ग्रीक दर्शन – विशेषतः अरस्तुवादी – के साधनों को सम्राट के दावों की सेवा में संचरित करना चाहते होंगे। इस वाद-विवाद, तथा उन परिस्थितियों के विश्लेषण में प्रवेश करना व्यर्थ है जिनमें दांते की रचना प्रारंभ होती है। इसमें हमारी रुचि नहीं है। हमारे लिये जो महत्वपूर्ण है वह, वह प्रयास है जो शांति के प्रत्यय को मानवता के प्रत्यय से, अथवा इसे और अच्छी तरह कहें तो, एक ऐसी मानवता के आगमन एवं उसके स्व-बोध से जोड़ता है जो एक ऐसी संस्था के रूप में जिसकी प्रत्येक जाति सदस्य है- अपनी पहचान के अज्ञान के कारण पहले छिन्न-भिन्न रूप में विकसित हुई।

दांते वह चिंतक है, जो एक ही समय विश्व-प्रभुत्व के सिद्धान्त को गढ़ता है, और एक ऐसी मानवता की धारणा सुझाता है, जो मानवीय संस्थाओं की बहुविधता में भी 'एक' है। निश्चित रूप से यह एक साम्राज्य के स्वप्न तथा मानवता की आधारशिला के बीच एक विलक्षण संयोजन है। और यदि मेरे पास समय होता, तो मैं दर्शाता कि आगे चलकर 'मोनार्किया' को कितनी सफलता मिली, कि इसने स्पेन में चार्ल्स पंचम, इग्लैंड में एलिज़ाबेथ, फ्रांस में हेनरी तृतीय एवं चतुर्थ और फ्रांसिस प्रथम को कितना आकर्षित किया, कि इसकी प्रेरणा के अधीन साम्राज्यवाद की भावनाओं एवं राजतंत्र के जीवन-लक्ष्य को मानवता की सेवा हेतु कैसे स्पष्ट किया गया। चलिये, हम सारभूत बातों तक सीमित रहें। मानवता अपने आपको तभी 'एक' के रूप में जानेगी, जब यह स्वयं को एक मात्र एक सत्ता को सौंपेगी। यह अपनी स्वयं की सत्ता का प्रतिनिधित्व तभी प्राप्त करेगी, जब प्रभुसत्ता का ढ़ांचा किसी 'एक' का ही प्रतिबिंब होगा। दांते का यही विषय है। इसका निश्चित रूप से एक ईश्वरमीमांसीय आधार है। यह 'एक' की कल्पना ईश्वर की कल्पना है, मानव उसकी प्रतिमूर्ति के रूप में रचा गया था। वहां ऐसा कुछ भी नहीं है जो स्पष्टतया धर्मशास्त्रों की शिक्षा के अनुकूल न हो। किन्तु पूर्ण सृष्टि के लिये जो कुछ भी सत्य है, वह दांते के अनुसार, संपूर्ण मानव-जाति के लिये, पृथ्वी के पूर्ण विस्तार तक एवं पीढ़ियों के अनुक्रमण में भी सत्य है। आइये, हम केवल एक छोटे से लेखांश को उद्धृत करें। यह याद करने के पश्चात् कि इसे कहा जा चुका है, (वह कहता है) आओ, हम मानव को अपनी प्रतिमूर्ति के रूप में, अपने समान बनायें, तब उसने देखा कि "यह

संपूर्ण ब्रह्माण्ड दिव्य शुभत्व की एक छाप है।" और तब दार्शनिक आगे कहता है इसीलिये जब मानव–जाति अपनी समस्त शक्ति में ईश्वर के सदृश्य होती है, तब वह एक सौभाग्यशाली अवस्था में तथा अपनी सर्वोत्तम अवस्था में होती है। किंतु जब मानवता सर्वाधिक 'एक' होती है, तभी वह ईश्वर से सर्वाधिक सादृश्य रखती है, क्योंकि केवल ईश्वर में ही एक होने का सच्चा तत्त्व है। इसीलिये यह लिखा गया है "ओ इज़राइल सुनो, वह प्रभु, तेरा ईश्वर, एक है।" (अब) ऐसी स्थिति में मानव–जाति सिद्धान्ततः तभी 'एक' है, जब वह संपूर्णतः एक ही काया में एकीकृत हो, और ऐसा तभी हो सकता है, जब वह पूर्णतया एक राजकुमार को सौंप दी जाये।

हमने देखा, कि राजा की देह मानवता को उसकी एकता की कल्पना प्रदान करती है। यह ऐसा इसलिये कर पाती है, क्योंकि राजा स्वयं ही ईश्वर का दृश्यमान प्रतिनिधि है। जैसा कि एर्न्स्ट कांतारो विच ठीक ही कहते हैं कि दांते की मौलिकता मानव की उस परिभाषा में सर्वाधिक सही रूप में दिखाई देती है जो बोध एवं विस्तार की कसौटियों को संयोजित करती है। मनुष्य, मानवीय व्यक्ति तथा मानव जाति है। अभी यह विश्वास मत कीजिए कि दांते के द्वारा कल्पित प्रभुत्व में मानव जाति की एकता निहित है। वह प्रत्येक कयिक एकता को मनता है चाहे वह व्यक्ति की काया हो, परिवार की, गांव की, शहर की, अथवा पूरे राज्य की। अरस्तु का अनुसरण करते हुये, वह मानता है कि प्रत्येक में, उसकी स्वयं की सोद्देश्यता होती है, परन्तु साथ ही वे सभी एक अंतिम एवं सार्वभौमिक लक्ष्य मानव जाति की दिशा में सुव्यवस्थित होते हैं।

रहस्यात्मक देह का प्रत्यय तथा आंगिक देह का प्रत्यय ऐसी मानवता की अवधारणा में उपयोगी होता है जो अपने साथ सामंजस्य रखती है तथा सर्वोच्च शुभ अर्थात् शांति का उद्घाटन करती है। चाहे जो हो, मानवता की सगर्भता हेतु दांते द्वारा, उसके अपने समय तक दी गई व्याख्या हमें कोई कम विलक्षण प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः सार्वभौमिक सम्राट को एक ऐसे समाधान के रूप में प्रस्तुत करने की अपेक्षा, जो उन मनुष्यों द्वारा खोजे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था जिन्होंने पहिले एक दूसरे के अज्ञान तथा संघर्ष में जीने की भूल की थी, दांते ने इस राजतंत्र का उत्पन्न होना ऐसी लड़ाईयों से दर्शाया है जो लड़ाईयां स्पष्टतया सर्वाधिक बलवान की विजय की इच्छा द्वारा नियंत्रित थीं, किंतु गुप्त रूप से उस विधाता के द्वारा नियंत्रित थीं जो मानवता को उसका परम लक्ष्य— मानवों की एकता–प्रगट करेगा। शांति के सिद्धान्तकार के लिये युद्ध से यही उद्भूत है। यह बात द्वन्द्व युद्धों की एक ऐसी श्रृंखला के अंत में

प्रगट हुई, जिसमें असीरियायी, मिश्री, फारसी, मेसीडैनियाई और अन्ततः रोमनों ने सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की। ऑगस्टस के अधीन इन बाद के लोगों को धन्यवाद है, जिन्होंने विश्व की एक ऐसी छवि प्रदर्शित की, जो वस्तुतः सभी मनुष्यों को समाहित करती है और जो यह दर्शाती है कि अवतारित मनुष्य के रूप में क्राइस्ट पृथ्वी पर उतर सकते हैं। आइये, हम इस त्वरित आह्वान को यहीं समाप्त करें, जहां यह हेगलीयवाद के प्रथम चिन्हों की झांकी पाने में बाधा डाल रहा है। मैं इसे दो व्याख्याओं से सम्बद्ध करना चाहूंगा। प्रथम, वे उद्धरण जिन्हें दांते ने अरस्तू (पालिटिक्स और निकोमाकेन इथिक्स) से लिया है, शास्त्रीय या पुरातन राजनीतिक दर्शन से दांते के अलगाव को और अधिक अच्छी तरह दर्शाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, इसे चक्रीय इतिहास के निरूपण से सम्बद्ध किया गया था, इसने उन दशाओं की कल्पना करने की चिंता नहीं की जिनमें युद्ध का अस्तित्व नहीं होगा, इसने नगर–राज्य की सीमाओं से परे अपने आप में मानवता के अस्तित्व पर ध्यान नहीं दिया। तीन लक्षण हैं, जो सम्बद्ध किये जाने योग्य प्रतीत होते हैं। निसंदेह रूप से, मानव–प्रकृति नगर–राज्य की प्रकृति के साथ अत्यधिक घनिष्ठ संबंध रखने वाली मानी गई थी। किन्तु प्रकृति के प्रत्यय में ही, अन्य संस्थाओं से एक दूरी पर राजनीतिक संस्था का सीमा निर्धारण एवं वास्तविक अथवा शक्य शत्रु के रूप में अजनबी का स्थायित्व सम्मिलित है। वस्तुतः दार्शनिकों की अभिधारणा को एक ओर छोड़कर, यदि हम एथेन्सवासियों द्वारा जंगली आक्रमणकारियों के विरुद्ध नहीं, अपितु अनाक्रमणकारी ग्रीक नगर–राज्यों के विरुद्ध भड़काये गये युद्धों का अवलोकन करें, तो हम इससे अवश्य ही सहमत होंगे कि वे जनता की भर्त्सना से डरे बिना, सर्वाधिक बलवान के नियम का निराशाजनक रूप से दावा करने में भी नहीं हिचकिचायें। यूसीडाईडीज़ ने हमारे लिये मेलोस पर विजय के वर्णन के साथ ही उनके आचरण का एक स्मरणीय उदाहरण छोड़ा है। इसके विपरीत, दांते एक ऐसे चिंतन को प्रारंभ करते हैं जो किसी राजनीतिक समुदाय को विकासशील मानवता के क्षितिजों पर अवस्थित करता है और इसके साथ ही शांति की खोज को सर्वाधिक अभीष्ट लक्ष्य बनाता है। दूसरे स्थान पर, दांते साम्राज्यवादी राजतंत्र तथा शांति के मध्य जो संबंध स्थापित करने हैं, वह एक नानाविध विश्व की अपनी अवधारणा में चाहे कितना ही प्रशंसनीय एवं नूतन क्यों न हो, किन्तु जो अपने आपको दिक् एवं काल में वैसा ही देखने में सक्षम है। यह संबंध उस खतरनाक गारंटी की झांकी की अनुमति देता है जो गारंटी मानवतावादी परियोजना किसी महाशक्ति को तब प्रदान करती है, जब वह परियोजना समस्त प्रतिरोधों से मुक्त ब्रह्माण्ड को लक्ष्य के रूप में रखती है।

16वीं शताब्दी से लेकर आज तक लोगों के अधिकारों को परिभाषित करने के लिये जो कुछ भी महान विधिवेत्ताओं द्वारा उपलब्ध किया जा चुका है, उस पर जो भी व्यक्ति ध्यान देता है, वह यह आंकने के लिये आकृष्ठ होगा कि दांते के सिद्धान्त को, देशीय राज्यों की लहरों में दफन कर दिया गया था। परन्तु शायद वैसा करना पूर्णतः सही नहीं होगा। वे उपलब्धियां मानवतावादी चिंता को निरंतर राजनीतिक समुदायों के मध्य संतुलित संबंधों को घटित करने, एवं उन्हें प्रतिस्थापित करने की इच्छा को प्रमाणित करती रहीं। इसके अतिरिक्त, और जैसे कि पहले ही मैं इस घटना का संकेत दे चुका हूं, यूरोप की नवीन शक्तियां प्रभुसत्ता के एक ऐसे सिद्धान्त की मांग से संतुष्ट नहीं थीं, जिसकी शब्दावली में राजकुमार जिसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है स्वयं को अपने साम्राज्य में सम्राट कहता हो। यह राजकुमार जो लौकिक व्यवस्था या जगत् में स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने, एक पवित्र भूमि पर राज्य करने, एक निर्वाचित देश के अगुवाई करने का दावा करता है, (देखिये, जोसेफ स्टेयर द्वारा किये गये श्रेष्ठ अध्ययन को), अपने क्षेत्राधिकार को विश्व के अंतिम छोरों तक विस्तृत करने की इच्छा से ग्रस्त हैं। यह एक ऐसी इच्छा है जो युद्ध के स्वरूप को, उन सीमाओं को समाप्त करते हुये जिनके अंतर्गत युद्ध सामन्तशाही के समय सीमित था, परिवर्तित करने का जोखिम मोल लेती है। न्यायिक प्रयासों की प्रेरणा निसंदेह इस चिंतन में सर्वाधिक अच्छी तरह दृष्टिगोचर होती है कि युद्ध की भावना को शांति की भावना से इतनी परायी नहीं होना चाहिए, एक को प्रोत्साहन देने में दूसरे को प्रारंभ करने का अवसर खो नहीं जाना चाहिये। ग्रोटियस, यूफनडोर्फ, बर्लामांकी अथवा वोटेल की रचनायें केवल यथार्थवाद की ही छाप नहीं रखतीं अर्थात् केवल तर्क के ऐसे तरीके की छाप वहन नहीं करतीं जो युद्ध की स्थिति को प्रदत्त मानता है, और इसे कम-से-कम नियमों के अधीन करने को प्रवृत्त होता है। वे रचनायें सूचित करती हैं कि युद्ध को शांति की दशाओं को नष्ट नहीं करना चाहिये, कि संघर्षरत राज्यों को संघर्ष के केन्द्र बिन्दु के रूप में यह जानना होगा कि उन्हें अन्ततः उनकी पारस्परिक स्वतंत्रता को उसी तरह स्वीकार करना पड़ेगा जैसा कि वे पहले करते थे। तब चिरस्थायी शांति के आदर्श का परित्याग, इसी तर्काधार पर, सतत् युद्ध को रोकने की इच्छा का परित्याग होगा। इस बिन्दु पर लौटने का अवसर मुझे कुछी क्षण में मिलेगा। महान् न्यायिक परंपरा युद्ध के अनिवार्य वैधीकरण की प्रायोजना का समर्थन करती है। ऐसी प्रायोजना के मूल में, राज्यों के शुभ या हित से भिन्न एक सार्वजनिक शुभ या हित की चेतना का बोध रहता है। राज्य या राष्ट्र की प्रभुसत्ता को पूर्णतः मान्य करने के पश्चात् यह शेष रहता है कि सार्वजनिक शुभ या हित की धारणा एक संगत न्यायिक प्रतिपादन का आधार नहीं बन सकती। (क्योंकि) वह सिद्धान्त जो प्रभुसत्ता के

प्रत्यय को स्थापित करता है, इसका निषेध करता प्रतीत होता है। वस्तुतः प्राकृतिक राज्य–जिसमें मनुष्य एक सतत् असुरक्षा में जीते हैं– और एक नागरिक या वैधानिक राज्य (जिसमें उनमें एक के साथ अनुबंध, अथवा दौहरे अनुबंध, अथवा संगठन के कारण अधीनता स्वीकरण प्रभुसत्ता के स्तर तक उठाया जाता है), मेरा कहना है कि इस भेद के कारण राज्य दुहरे आयाम के अंतर्गत दिखाई पड़ता है। एक रूप में वह अपने सदस्यों के संबंध में कानून का प्रेरक अथवा कानून की गारंटी देने वाला प्रतीत होता है, तथा अन्य राज्यों के संदर्भ में वह एक अधिव्यक्ति के रूप में प्राकृतिक स्वतंत्रता का आनंद लेता दिखाई देता है। यदि यह राष्ट्र प्रभुसत्ता रखता है तब यह किस श्रेष्ठ न्यायिक अनुनय–विनय के सम्मुख समर्पण कर सकेगा? किन न्यायिक सीमाओं के साथ इसका संकल्प युद्ध में टकरा सकेगा? और यदि यह अनुवर्ती पक्ष नागरिक राज्य की यथार्थ संरचना एवं अटल अनुरक्षण से मेल खाता है, तो नगर राज्य प्रभुसत्ता कैसे नहीं रख सकेगा?

शांति के आदर्श को युद्ध के वैधीकरण के लिये बदलना अन्य तरह से नहीं, केवल विस्मरण की इस शर्त पर यथार्थवादी होगा कि राष्ट्र केवल अपने निजी हितों का पालन करते हैं, और यह कि ये किसी ऐसे नियम का पालन करने हेतु अपने को विवश अनुभव नहीं करते जो उनके हितों के विरुद्ध जाता हो। यह लगभग वही है, जैसा कि रूसो ने कहा था। शांति पर उनकी टीका–टिप्पणी (बर्नार्डें ड सैन–पियरे द्वारा प्रतिपादित चिरस्थायी शांति की प्रायोजना द्वारा प्रेरित) प्राकृतिक राज्य की उस अवधारणा द्वारा निर्देशित है जिसे वे मूलतः हाब्स की प्राकृतिक राज्य की अवधारणा के विरोध में रखते हैं। यह अनुवर्ती अवधारणा रूसो को वर्तमान समाज द्वारा ढाले गये मनुष्य के गुणों को प्राकृतिक मनुष्य पर आरोपित करने वाली, एवं प्रत्येक का प्रत्येक के विरुद्ध आदिम युद्ध, की कपोल कल्पना को गढ़ने वाली लगती है। इस धारणा से भिन्न, रूसो इस बात से इंकार करते हैं कि प्राकृतिक मनुष्य अपनी परिस्थिति में अपने साथी मनुष्यों को नष्ट करने की इच्छा का कारण पा सकता है। मान लो, एक ही लक्ष्य की खोज में, प्रतिद्वन्द्विता के किसी अवसर पर संघर्ष उत्पन्न हो सकता है एवं पड़ोसी से उसका विरोध हो सकता है। मान लो एक खून हो जाता है। ज्यों ही वह अवसर समाप्त हो जाता है, त्यों ही लड़ाई की स्थिति खत्म हो जाती है। अस्तु, दार्शनिक घोषणा करता है– 'मनुष्यों के बीच युद्ध नहीं होता, केवल राज्यों के बीच युद्ध होते हैं।' इसके विपरीत वे एक ऐसी दुनियां के दुःख को देखते हैं जिससे राज्यों में वह स्वतंत्रता पाई जाती है, जिससे आदमी को वंचित कर दिया गया है। मनुष्य इन विशाल संस्थाओं में शरण लेते हैं, जो अपनी निजी तरंगों में मग्न रहते हैं। ये तरंग उसी अनुपात में अति भयंकर आघात उत्पन्न

करती हैं जिस अनुपात में उनके जनसमूह, व्यक्तियों से अधिक प्रभावशाली होते हैं। स्वयं यथार्थवाद से चिंतित, वह राज्यों की प्राकृतिक स्वतंत्रता की व्याख्या करता है, और यह आंकता है कि केवल वो ही युद्ध की स्थिति का अन्त कर सकने में सक्षम हैं। वह लोगों के लिये ऐसे अधिकार को सुनिश्चित करने के न्यायविदों के प्रयासों का खण्डन करता है जो अधिकार प्रभुसत्ताओं को तब तक बाध्य नहीं करेगा, जब तक वे इससे सहमत न होंगे। इसके विपरीत, उसका तर्क, युद्ध की सीमा निर्धारित करने की असंभावना द्वारा आवृत खतरे का इन प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा सामूहिक अनुभव किये जाने की प्राक्कल्पना पर आधारित है। वह युद्ध के वैधीकरण के भ्रम को रसातल की कल्पना कह कर विरोध करता है। ऐसे विश्व में सुरक्षा एवं विजय का कभी भी आश्वासन नहीं दिया जाता, जहां विरोधियों का निरंतर पुनरुत्थान होता है, जहां राजे-महाराजे भौतिक साधनों एवं मानवीय शक्तियों के अंतहीन व्यय को समर्पित हैं, जिन साधनों एवं शक्तियों को दूसरी तरह वे स्थायी गौरव के लिये नियंत्रित और निवेशित कर सकते हैं।

चाहे हमें शक्ति की राजनीति के परित्याग पर अकस्मात् एवं युगपत् अनुबंध से उत्पन्न संघ की प्रायोजना कितनी ही निष्कपट प्रतीत होती हो, तब भी रूसो द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों ने अपनी यथार्थता जरा भी नहीं खोई है। यदि कानून के प्रति आदर शासकों की विशुद्ध स्वेच्छाचारिता के अधीन रखा जाता है तो युद्ध में कानून को समाविष्ठ करने का कोई प्रयत्न सफलता का अवसर कैसे पावेगा? इसके अतिरिक्त हमें याद रखना होगा कि वह अपनी रचना— जिससे कि किसी अधिक आशावान होने का पता नहीं चलता, से "एक्रित स्युर ले प्रोज्ये देपेअर परयेत्युअल दे बेरनार दे दे सेंपिअर (वरनार दे दे सेंपिअर के शाश्वत शान्ति की योजना पर लेख) को इस वाक्य के साथ समाप्त करता है : "वह एकमात्र चीज, जिसकी हम शासकों के लिये कल्पना कर सकते हैं, यह देखने की पर्याप्त बुद्धि कि उनके लिये क्या उपयोगी है, और अपने स्वयं के कल्याण को सुनिश्चित करने का पर्याप्त साहस है। इतना सब होने के बावजूद यदि प्रायोजना अक्रियान्वित रह जाती है, तो वह इसलिये नहीं कि यह योजना काल्पनिक है, वरन् इसलिये कि मनुष्य बावले होते हैं एवं पागलों के बीच बुद्धिमान होना मूर्खता है।" यह और जोड़ना पड़ेगा कि रूसों का तर्क, आज जैसा हम उसे आंकते हैं, उसकी अपेक्षा उसके खुद के समय में अधिक सनकभरा प्रतीत हो सकता था। उनकी तर्कणा के केन्द्र में विरोधियों के पारस्परिक उन्मूलन की परिकल्पना है। तब यह मात्र तार्किक संभावना की बात थी। इसके अतिरिक्त, विनाश के साधनों में तकनीकी विकास की स्थिति ने इस पारस्परिक उन्मूलन के, एक वास्तविक संभावना में रूपान्तरण की अनुमति नहीं दी है। वर्तमान दशायें उनके विचार

को वह तीक्ष्णता प्रदान करती हैं, जिसे उनके समकालीन चिंतक पहले से नहीं जान सके।

किसी भी स्थिति में, दांते के आह्वान को ध्यान में रखते हुए, हमें इस बात पर सहमत होना चाहिये कि शांति के प्रत्यय एवं मानवता के प्रत्यय के बीच स्थापित संपर्क, यहां एक नया अर्थ ग्रहण करता है। मानवता पर अनुचिंतन, प्राकृतिक अवस्था से सभ्य अवस्था तक की उसकी यात्रा की शब्दावली में युद्ध की मूर्खता एवं उसकी समाप्ति के अवसर को मापा जा सकता है। तथापि रूसो यह मत प्रस्तुत नहीं करना चाहते कि सभ्य मानवता स्वयं को एक ऐसे राजनीतिक निकाय में रूपायित कर सकती है, जिसके सदस्य,देश और काल के माध्यम से, अनेक छोटे-छोटे निकाय होंगे। वह 'एक' में उनके एकीकरण की कल्पना का तिरस्कार करता है। राष्ट्रों की अेनकता बची रहती है। उनका साहचर्य एक श्रेष्ठ कानून के प्रति उनकी अधीनता को उपलक्षित नहीं करता। वे ऐसी प्राकृतिक अनिवार्यता के प्रभाव व परिणाम का आन्तरीकरण कर सन्तुष्ट हैं, जो, फलस्वरूप पारस्परिक मान्यता की इच्छा में रूपान्तरित होता जाता है। सभ्यता की प्रक्रिया मानवीयकरण की ऐसी प्रक्रिया का अनुकरण करती है,जो समावेश की व्यवस्था पर आधारित न होकर यौक्तिकरण की व्यवस्था पर आधारित है।

इसी से मिलती-जुलती प्रेरणा का अनुसरण करते हुये, चिरस्थायी शांति के लिये कांट द्वारा तैयार की गई प्रायोजना— "सुम एवीगेन फ्रीडेन" (शाश्वत शान्ति पर) हमें विचारणीय सैद्धान्तिक प्रगति का संकेत देती हुई प्रतीत होती है। निःसन्देह किसी एक लेख में इसका विश्लेषण करने का प्रयत्न असंभव है। हम मात्र कुछ टीका-टिप्पणी करेंगे, जो यहां हमारे उद्देश्य को पूरा करेगी।

प्रथम खण्ड में, कांट न्यायिक परंपरा के अनुरूप रहते हुये, 6 अनुच्छेद प्रस्तुत करता है, जिनका आशय उन सीमाओं का उल्लेख करना है, जिनके अंतर्गत युद्धाभ्यास को नियंत्रित किया जाना चाहिए। छठवें अनुच्छेद में वह घोषणा करता है— 'युद्ध के दौरान भी शत्रुता की भावना के नियंत्रण में कुछ आत्म-विश्वास अवश्य ही होना चाहिये। उसके बिना शांति का निष्पादन नहीं हो सकता, और तब युद्ध की स्थितियां समूल विनाश के युद्ध में विकृत हो जायेंगी। तत्पश्चात् यह आंकते हुए कि 'युद्ध हिंसा के द्वारा अपने अधिकार का समर्थन करने की प्राकृतिक राज्य (जिसमें कानून के बल पर निर्णय लेने के लिये कोई भी न्यायालय नहीं है) की आवश्यकता के द्वारा आरोपित एक अनर्थकारी साधनमात्र है, सारतत्व के रूप में वह कहता है कि किसी भी पक्ष को "अन्यायी शत्रु नहीं बताया जा सकता" और यह कि

यही मुद्दा है जो यह तय करता है कि किस पक्ष में औचित्य पाया जाता है। यह एक ध्यान देने योग्य घोषणा है, क्योंकि यह राजनीति में नैतिकता की सामान्यतः स्वीकृत धारणा का विरोध करती है।

अन्ततः वह समूल विनाशकारी युद्ध के खतरे की भर्त्सना इस तर्क के साथ प्रारंभ करता है कि युद्ध का कोई भी समर्थक, दूसरे समर्थक के संदर्भ में श्रेष्ठ अधिकार की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता है और इस तरह एक दण्ड स्वरूप युद्ध जारी रखता है। "इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समूल विनाशकारी युद्ध–जिसमें दोनों ही पक्ष, तथा उनके साथ उनके सभी अधिकार, एक ही समय में नष्ट हो जायेंगे– चिरस्थायी शांति की स्थापना को, मानव–जाति के एक बृहद् कब्रिस्तान में ही परिवर्तित कर सकते हैं।" विरोधाभासी रूप से प्राकृतिक राज्य, बशर्ते उसका सम्मान किया जाता हो, कांट की दृष्टि में, युद्ध की एक नियंत्रित अवस्था की गारंटी प्रदान करता है। कांट के लिये, सबसे बुरा यह होगा कि एक युद्धरत अपने आपको एक ऐसे अधिकार का धारक मान बैठे, जो संघर्ष से परे है।

दूसरी टिप्पणी : यह घोषणा कर देने के पश्चात्, कि प्रकृति में सत्तावान न रहने वाले कानून के राज्य को अवश्य ही स्थापित किया जाना चाहिए, द्वितीय खण्ड में कांट यह दर्शाने का कार्य हाथ में लेता है कि गणतंत्रात्मक संविधान ही एकमात्र ऐसी प्रणाली है, जिसके आधार पर चिरस्थायी शांति स्थापित की जा सकती है। केवल यही प्रणाली 'मनुष्यों के रूप में, किसी समाज के सदस्यों से संबंधित स्वतंत्रता के सिद्धान्तों का' उत्तर दे सकती है, अर्थात् उन सिद्धान्तों का उत्तर दे सकती है जो केवल एक, संपूर्ण विधान पर सभी की आश्रितता का आश्वासन देते हैं, और केवल ये ही किसी न्यायिक विधान के मूल में स्थित आदिम अनुबंध के विचार से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की शासन–प्रणाली में युद्ध की घोषणा का निर्णय राजा की स्वेच्छाचारिता से नहीं आता है, अपितु यह उन नागरिकों की स्वीकृति की अपेक्षा रखता है जो अपने विषय में यह प्रमाणित करते हैं कि वे उन बुराईयों को समझ बूझकर पहचान सकते हैं जिन्हें उन्हें सहना होगा। यह बिन्दु हमारे द्वारा ध्यान देने योग्य है यद्यपि इतिहास शिक्षा देता है कि ऐसे संविधान के अंतर्गत रहने वाले लोग अनेक अवसरों पर युद्ध के लिये सहमत हो चुके हैं, और उन्होंने कारणों, परिणामों अथवा पारितोषिकों की जरा भी परवाह नहीं की, तब पर भी कांट का निर्णय हमें निरंतर गहराई में उतरता जाता प्रतीत होता है। यदि साहचर्य तथा सूचना की स्वतंत्रा द्वारा प्रबुद्ध जनमत की शक्ति अपने आप में किसी राष्ट्र की शांति की इच्छा के लिये गारंटी नहीं है, तो संदेह नहीं है कि इसकी अनुपस्थिति, अर्थात् शक्ति के द्वारा

जनता के निर्णय का एकाधिकारकरण (जैसा कि हम तानाशाही शासन और सभी प्रकार के सर्वसत्तात्मक शासन में देखते हैं) शांति की अवस्था के लिये पहले प्रकार के खतरे को जन्म देता है।

तीसरी टिप्पणीः कांट की अभिधारणा की सर्वाधिक मौलिकता असंदिग्ध रूप से शांति की दो अवधारणाओं -- बुद्धि के प्रत्यय के रूप में शांति तथा प्रकृति की सौद्देश्यता के उत्पाद के रूप में शांति- के संबंध एवं विभेद में निहित है। एक ओर कांट (द्वितीय खंड, द्वितीय अनुच्छेद) दृढ़तापूर्वक यह कहता है कि नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ विधायक बुद्धि शक्ति के सिंहासन की ऊंचाई से पूर्णतया युद्ध की निंदा करती है, और दूसरी ओर (प्रथम परिशिष्ट) वह कहता है कि चिरस्थायी शांति की गारंटी प्रकृति में एक ऐसा महान शिल्पकार पाती है, जो मनुष्यों के बीच के मन-मुटाव में से, उनकी इच्छा के न होते हुए भी, सोहार्द उत्पन्न करने को प्रेरित करता है। प्रकृति का यह संप्रत्यय, जिसे कांट विधि के संप्रत्यय को टालने के लिये प्रयुक्त करता है, हमें यह सोचने के लिये प्रेरित करता है कि यह इतिहास के उस संप्रत्यय की घोषणा करता है, जैसा उसे हेगल आगे समझेगा। और अधिक सटीक रूप से, यह सोचने के लिये प्रेरित करता है कि प्राकृतिक सोद्देश्यता का उसका सिद्धांत बुद्धि चातुर्य का समावेश करेगा।

युक्तियों के विस्तार में न जाते हुए, मैं कहूंगा कि शांति की स्थापना संपूर्ण पृथ्वी पर मानवता के विस्तार के प्रतिफल के रूप में दृष्टिगत होती है और मानवों के बीच सौहार्द के ताने-बाने की संरचना, यद्यपि कम या अधिक वैधानिक, एक साथ रहने की आवश्यकता को प्रमाणित करती है। इस संबंध में कांट घोषणा करता हैः "अब, क्योंकि प्रकृति की सृष्टि ही ऐसी है कि मनुष्य पृथ्वी पर प्रत्येक जगह रह सकता है, वह उससे निरुपाधिक रूप में यह चाहती है कि चाहे उसकी अभिरुचि कुछ भी हो उसे कहीं भी रहना चाहिये और यहां तक कि इस बाध्यता के बिना भी, उसी समय यह मानते हुये कि कर्त्तव्य की धारणा नैतिक नियम के द्वारा उन्हें आकर्षित करेगी, किन्तु अपने साध्यों की प्राप्ति के लिये प्रकृति ने युद्ध चुना है।" प्रकृति का यह सिद्धान्त चाहे जो प्रतिबंध लगाये, हमें यह ध्यान रखना होगा कि यह उस अत्यावश्यकता को आंकता है, जिसे रूसो ने नहीं पहचाना। उसने शांति की समस्या को, प्राकृतिक राज्य को छोड़ने के समय से, स्थिर प्रदत्तों में अपचयति किया, और यह समस्या अन्य किसी तरह से नहीं, अपितु स्थायी असुरक्षा की मूर्खता से बचने को चिंतित शासकों के बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय के माध्यम से निराकरणीय प्रतीत होती है। इसके विपरीत, कांट उस प्रक्रिया का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा मानवता

अपने आपको वास्तव में तथा वास्तविक अधिष्ठान अर्थात् पृथ्वी में मानवता के रूप में पहचानने लगती है, और शनैः शनैः अपने सभी भागों में, अपने आप से संवाद की स्थिति में प्रवेश करती है। यह प्राकृतिक प्रक्रिया जिससे लोग अनभिज्ञ हैं, सर्वप्रथम राजनैतिक समाजों की विधायक, द्वितीय, युद्ध के दौरान उनके संबंधों की स्थापना की विधायक, और अंत में, अस्तित्व के एक सार्वभौमिक रूप की विधायक होती है अथवा, यदि आप चाहें, तो यह प्रत्येक समाज में पाई जाने वाली निकटता एवं दूरियों में भी शांति के ध्वज के नीचे साथ-साथ रहने को रूप देती है। ऐसे नागरिक कानून के रूप में, जो राजनैतिक इकाईयों के निर्माण से सम्बद्ध रहते हैं, राष्ट्रों के कानून के रूप में जो युद्ध से सम्बद्ध होते हैं, और अंत में विश्वव्यापी कानून के रूप में, प्राकृतः ही यह प्रक्रिया प्रत्येक सोपान पर कानून के इन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती है। हम पुनः प्रकृति की व्यवस्था क्या है, और नैतिकता की व्यवस्था में क्या है, इन दोनों के दृढ़पूर्व में रूपायित भेद का उल्लेख करें। जब मैं यह कहता हूं कि प्रकृति यह इच्छा करती है कि अमुक प्रकार की चीज घटित हो, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मुझ पर उसे क्रियान्वित करने का कर्त्तव्य थोपती है, (वह वस्तुतः केवल उस व्यावहारिक बुद्धि के लिये संभव है, जो समस्त प्रतिबंधों से मुक्त हो), किन्तु यह स्वयं इसे संपादित करती है, फिर चाहे हम इसकी इच्छा करें या न करें। (द्वितीय खण्ड का प्रथम परिशिष्ट)। यह अभिव्यक्ति एक नवीन व्याख्या की मांग करती है। कांट के अनुसार शांति के प्रत्यय को चाहे वह किसी व्यावहारिक योजना में जोड़ने योग्य क्यों न हो, ज्ञाता की निरूपाधिक अत्यावश्यकता में सुस्थिर नहीं किया जा सकता। इसे मानवता के भविष्य के लक्षणों की अथवा, बेहतर हो कि स्वयं मानवता के आगमन के लक्षणों की व्याख्या पर आधारित होना चाहिये।

चलिये हम **सुम एवीगेन फ्रीडेन** (शाश्वत शान्ति पर) में प्रस्तुत कांटीय चिंतन के विषय-क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिये एक कदम और आगे बढ़ें। यद्यपि अच्छी समझदारी के साथ अनेक व्याख्याकार उस प्रभाव को रेखांकित कर चुके हैं, जो प्रभाव विधिवेत्ताओं की सुदीर्घ परंपरा ने कांट पर डाला, (तथापि) हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक वस्तुतः उस क्षेत्र में उन प्रभावों से बचता है, जिन पर हम यहां विचार कर रहे हैं। विश्वव्यापी कानून की धारणा इसे अच्छी तरह से प्रदर्शित करती है। यह कानून एक ऐसी स्थिति से जन्म लेता है, जिसमें पृथ्वी पूर्णतः मनुष्य द्वारा अधिकृत है और इस आधिपत्य का ज्ञान होने पर पृथ्वी मनुष्यों के सामूहिक निवास या सामूहिक सम्पत्ति के रूप में उद्घाटित होती है। यहां प्रश्न लोकोपकार का नहीं है, किन्तु कानून का है। इस तरह आतिथ्य का अर्थ है कि शत्रु के रूप में न समझे

जाते हुये, किसी परदेशी को अन्य किसी के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार है। यह अधिकार क्या है? यह अधिकार कि सभी मनुष्यों को अपने आपको पृथ्वी की सतह— जिस पर वे असीम तक फैल नहीं सकते, क्योंकि वह गोल है- की सामूहिक संपत्ति के अधिकार के कारण, समाज का सदस्य समझना चाहिए। अस्तु, उन्हें एक-दूसरे को सहन करना चाहिए, किसी के पास यह जन्मजात अधिकार नहीं है कि वह अपने को पृथ्वी के किसी अन्य स्थान की अपेक्षा किसी विशेष स्थान पर पाये। वह स्पष्ट करता है कि इस विवरण में पुलिस राज्यों का आह्वान करना, परदेशियों के प्रति उनके व्यवहार के कारण— जिन परदेशियों को वे दंडित करते हैं, और इसे अपनी विजय से भ्रमित करते हैं, —अपने विवरण में उपनिवेशवाद का आह्वान है। वह इस अध्याय का अंत इन शब्दों से करता है— 'अब, चूंकि संबंध (कम या अधिक घनिष्ठ अथवा दूरस्थ) जो अब पृथ्वी के लोगों के बीच प्रचलित हैं, उस बिन्दु पर हैं जहां, एक स्थान पर किया गया अधिकारों का उल्लंघन सभी जगह अनुभव किया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक विश्व-कानून का विचार अब काल्पनिक और अतिरंजित प्रतीत नहीं हो रहा, अपितु सामान्य रूप में मानवता के सार्वजनिक अधिकारों तथा बाद में चिरस्थायी शांति-जिस चिरस्थायी शांति पर हम तब तक गर्व नहीं कर सकते, जब तक उसे इन दशाओं के अन्तर्गत शनैः-शनैः प्राप्त कर लें— को समझने के लिये, सार्वजनिक कानून के साथ-ही-साथ मानव-अधिकारों की अलिखित संहिता प्रतीत होता है।

न तो कांट और न ही हेगल यह कल्पना करता है कि शांति राष्ट्रों के संयोजन का परिणाम हो सकती है। संभवतः दाँते को याद करते हुये कांट घोषणा करता है कि सार्वभौम राजतंत्र की धारणा उत्कृष्ट रूप में खतरनाक है: कानून सरकार के विस्तार के अनुपात में अपनी शक्ति खोते हैं, और एक प्राणशून्य तानाशाही, अच्छाई के जीवाणु निकाल देने के पश्चात् अराजकता के गर्त में गिर जाती है। (द्वितीय भाग, प्रथम परिशिष्ट)। किन्तु जबकि हेगल राष्ट्रों की निरपेक्ष प्रभुसत्ता को सीमित करने के लिए एक सरल तथ्य पाता है। वह यह है कि राष्ट्र एक दूसरे को उसी हैसियत से मान्यता देते हैं, (कि) इस मान्यता में वे एक दूसरे को अपने आप में तथा स्वयं अपने लिये सत्तावान के रूप में मूल्यांकित करते हैं। (**ग्रुन्ट लीनीन डेर फिलोसफी डैस रेख़्टस**— कानून के दर्शन की आधार पीठिका का अंतिम भाग), कांट, एक उत्कृष्ट वैधानिक दृष्टांत के प्रत्यय को छोड़ते हुए, उस सार्वभौम अधिकार को पहचानते हैं जो उसमें उत्कीर्ण है जिसे हम सार्वभौमिक पैमाने पर सामाजिकता का विकास कह सकते हैं। इस तरह, क्या उसने वह रास्ता नहीं खोल दिया, जो अब तक खोज़ा नहीं गया था।

यह सत्य है कि रेमंड एरोन टिप्पणी करते हैं कि प्रथम विश्व-युद्ध ने कानून तथा शांति की अवधारणा में अलगाव का संकेत किया। उस समय तक संपूर्ण न्यायिक परंपरा युद्ध को विधिसम्मत सिद्ध करने में प्रवृत्त थी। वह लिखता है : उस समय से लेकर आज तक इसे (शांति को) कानून के बाहर रखने का विचार प्रचलित है। यह कांट का उद्देश्य नहीं था। इस प्रायोजना के लिये मुझे न्यायिक निर्णयवाद विजातीय प्रतीत होता है और **पेय ए गेअर आंत्र ले नस्यो** (राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं युद्ध) के लेखक द्वारा की गयी इस निर्णयवाद की आलोचना, संभवतः उस बिन्दु को स्पर्श नहीं करती जो **सम एवीगेन फ्रीडेन** (शाश्वत शान्ति पर) में सर्वाधिक रुचिकर हो सकता है। एरोन आंकता है, और सही रूप से आंकता है कि "ब्रिलैंड-क्लोग समझौता" तथा 'लीग और नेशन्स' की स्थापना ने अवैध युद्ध की व्यर्थता सिद्ध की है। (किन्तु) यह प्रयास निम्नलिखित तथ्यों के विरुद्ध चला गया : राष्ट्रों द्वारा अपनी प्राकृतिक स्वाधीनता का सम्पोषण, उनमें से कुछ राष्ट्रों द्वारा यथापूर्व स्थिति- जिस पर समझौता आधृत माना गया था— को स्वीकार करने में अस्वीकृति, उद्दंडों से आज्ञा-पालन करवाने के लिये बल-प्रयोग के साधनों का इस्तेमाल करने में अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकार की असमर्थता आदि। इससे भी अधिक, वह हमें यह दर्शता है कि शांति की आइडियोलॉजी ने लोकतंत्रों को विशेषतः फ्रांस को पंगु बना दिया है। "लीग ऑफ नेशन्स" के सदस्यगण हिटलर और मुसोलिनी के विरुद्ध तब अंकुश लगाने में असमर्थ सिद्ध हुये, जब उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करना प्रारंभ किया। जहां तक फ्रांस की बात है, उसने हिटलर के रास्ते को रोकने का साहस नहीं किया, जबकि उसके पास, उस समय तक अपने दुश्मन की फौज से बेहतर फौज थी। अंततः म्युनिख़ में इग्लैंड और फ्रांस के आत्म-समर्पण ने हिटलर और उसके फौजी कर्मचारियों को यह निश्चिन्तता दे दी कि उनकी विजय के रास्ते में कोई बाधा नहीं आयेगी। यदि हम इस विश्लेषण को, जो अपने आप में स्वीकार करने योग्य लगता है, मानते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इससे निर्गमित किये जाने वाले सबक, उन लोगों की धारणा की पुष्टि करते हैं जो राज्यों की अपरिहार्य स्वेच्छाचारिता के प्रति सचेत, यर्थाथवादी हैं, और आक्रमण के प्रयासों को रोकने के लिये शक्ति-संतुलन की अपेक्षा अन्य किसी समाधान की कल्पना नहीं करते, तथा जो युद्ध से केवल उन्हीं साधनों के बहिष्कार के संकल्प को महत्व देते हैं, जिनसे युद्ध के समूल विनाश के युद्ध में परिवर्तित हो जाने का खतरा रहता है। इस दृष्टि से, शांति विशुद्धतः नैतिक आधारों के अतिरिक्त, अन्य तरह से एक परम मूल्य के रूप में नहीं समझी जा सकती।

इस प्रकार की तर्कणा में एक अंतरंग दोष है। उस क्षण से जब से कानून, विश्व-परिदृश्य में पहचाने जाने योग्य कर्त्ताओं के रूप में राष्ट्रों— ऐसी शक्तियां जो प्राकृतिक अवस्था में एक-दूसरे का सामना करती हैं— के महत्व द्वारा आरोपित सीमा से टकराता है, आक्रमण की कोई भी परिभाषा असंभव आंकी जाती है। अब, यह नैतिक चेतना या विवेक है जो आक्रामक तथा आक्रमण के शिकार में भेद करता है, यहां तक कि तब भी, जब संपूर्ण पारस्परिक न्यायिक साधन या उपकरण उन्हें परिभाषित करने में असमर्थ रहते हैं। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् किस चीज पर नैतिक चेतना आधृत थी, यदि वह इस विचार पर आधृत नहीं थी कि नाज़ीवाद और फासीवाद ने मानव-अधिकारों और जनसाधारण के अधिकारों का उल्लंघन किया? सामान्यतः युद्ध को अवैध घोषित करने की प्रायोजना पर एरोन की समीक्षा सुआधृत प्रतीत होती है, किन्तु वैचारीकरण की सीमाओं के अन्तर्गत जो केवल यह विकल्प मानता है, प्राकृतिक राज्य अथवा कानून का राज्य (बाद में उल्लखित को नागरिक या वैधानिक राज्य के रूप में समझा जाता है) परिणामस्वरूप, जैसा कि रूसो ने स्पष्टतः देखा कि न्यायिकों के युद्ध को वैध बनाने के प्रयास सिद्धान्त की नींव के बिना छलकपट मात्र शेष रह जाते हैं। वे खेल के ऐसे नियमों की स्थापना की ओर ले चलते हैं, जिनका आदर खिलाड़ी तभी करते हैं, जब वे उनके लाभ के लिये होते हैं, किन्तु यदि वे उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं करते, तो उन नियमों को तोड़ने में वे संकोच नहीं करते हैं। उनकी पहुंच जो कुछ भी हो— और हम निश्चितरूप से इसे उपयोगी आंक सकते हैं— ये प्रयास अर्थक्रियावाद की सीमाओं से परे नहीं जाते। हम याद रखें कि हेगल, यद्यपि हम उसे शांति के सिद्धान्तवादियों की श्रेणी में नहीं रख सकते, जब राज्यों की पारस्परिक मान्यता के विषय में कहता है, तब यह आग्रह करता है कि इस संगठन से आगे जाना चाहिए। इसी समय वह राज्य को, इसी हैसियत से, परम घोषित करता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह मान्यता एक सरल तथ्य के रूप में प्रस्तुत की जाती है। परंतु कौन यह नहीं देख पाता कि यह तथ्य का विषय नहीं हो सकती? यह या तो शक्ति का सम्पर्क है, जो किसी राज्य को अन्य राष्ट्र की स्वतंत्रता का निरंतर लेखा-जोखा रखने को विवश करता है, अथवा वहां वस्तुतः पारस्परिक मान्यता है, अर्थात् एक राष्ट्र के लक्ष्यों का अन्य राष्ट्र द्वारा एक अनिवार्यतः प्रतीकात्मक आकाश में स्वदेशीकरण है, जिसे पहचाना जाना चाहिए।

अब, यदि मानवता नहीं है, तो यह प्रतीकात्मक आकाश क्या हो सकता है? उससे हमारा तात्पर्य राष्ट्रों से ऊपर एक एकाकी सत्ता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र मनुष्यों से ऊपर है। जब तक हम एक समग्र निकाय के रूप में, (एवं) राष्ट्रों को

अपने में सम्मिलित करने वाले एक उत्कृष्ट व्यक्ति के रूप में मानवता की अवधारणा को अलग नहीं करते, वे अपने आपको अपने पराधीनों को सम्मिलित करने वाले अधि–व्यक्ति समझते हैं, तब तक कोई भी सैद्धान्तिक संभावना स्वयं को कानून की नई अवधारणा के रूप में प्रस्तुत नहीं करती। इस कल्पना को अस्वीकार करने पर, मानवता भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विषयों के रूप में, सदैव अबोधगम्य, प्रतीत होगी। जिस मानवता में राजनीतिक अस्तित्व एवं सहअस्तित्व के समस्त रूप जन्म लेते हैं, और जिसकी ओर वे ध्रुवित होते हैं। इस एक शर्त पर कानून के प्रत्यय के साथ मानवता के प्रत्यय का संयोग कुछ अर्थ अर्जित कर सकता है। अब, हम ध्यान दें कि मानवता के एक कानून की अवधारणा एक सामाजिक कानून की अवधारणा द्वारा किनारे तक लाई जा सकती है। एक महान् न्यायिक परंपरा प्राकृतिक अवस्था से सामाजिक अवस्था तक की काल्पनिक यात्रा के निरूपण पर, इस अभिधारणा का अनुमोदन करने के लिये आधृत की जा चुकी है कि जहां सामूहिक अधीनता– स्वीकरण का सिद्धान्त प्रभुसत्ता में मूर्तिमान तथा अनुमोदित है, उसे छोड़कर कहीं कानून नहीं है। इस व्याख्या का समर्थन करने से दूर, एक और मानवशास्त्रीय ज्ञान तथा और अधिक स्पष्ट रुप से कहें तो समाजशास्त्र, एवं दूसरी ओर फिनोमिनोलॉजी आदिम संबंधों के एक जाल को उद्घाटित करते हैं, इससे अधिक, अपने सामूहिक जगत् में प्रत्यक्ष, चिंतन एवं कर्म करने वाले प्राणियों की जटिलता को उद्घाटित करते हैं, जो जटिलता किसी समुदाय के प्रतीकात्मक संविधान द्वारा अनुमोदित की जाती है। सामाजिक कानून— अपने सर्वाधिक आदिम रूपों में, जैसे कि अपने अधिक विस्तृत रूप में— हमारे शास्त्रीय प्रतिमान में अपरिवर्तनीय प्रतीत होते हैं, जो प्रतिष्ठित प्रतिमान, यदि मैं इस अभिव्यक्ति का प्रयोग कर सकता हूं तो, सामाजिक आकाश के केवल ऊर्ध्वमुखी आयाम पर ध्यान देता है। जिस प्रकार प्रभुसत्ता के ध्रुव, शक्ति और कानून के ध्रुव की सर्वव्यापी धारणा को नकारना व्यर्थ होगा, उसी प्रकार यह भी व्यर्थ होगा कि हम यह चाहने की गल्ती करें कि सामाजिकता की संस्था इस ध्रुव की ओर लौट जाये। प्रभुसत्ता का दृष्टांत सामाजिक व्यवस्था का एकमात्र संस्थापक नहीं है, वह उसका एक हिस्सा है, वह सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होता है और उसे निर्धारित भी करता है। अब, यदि हम यह स्वीकार करते हैं तो हमें इस पर सहमत होना चाहिए कि मानवता की दुनियां और राष्ट्रों की दुनियां के बीच कोई खाई नहीं है, कि कानून राज्य की सीमाओं पर नहीं रुक जाता, क्योंकि इसने कभी भी राज्य से अपना उद्भव निर्गमित नहीं किया है।

हम यह विश्वास न करें कि उपर्युक्त अंतिम टिप्पणियां हमें हमारे विषय से दूर ले जाती हैं। वे हमें पृथ्वी के सीमित घरातल पर मनुष्यों की निरंतर

बढ़ती निकटता के परिणाम के रूप में, युद्ध के अनुभव के साथ उद्घाटित एवं प्रारंभ होने वाली, प्रगट होने वाली मानवता के कानून के कांटकृत प्रत्यय की ओर वापिस ले चलती है। कांट की दृष्टि एक ऐसा पूर्वाभास है जो हमें आश्चर्य-चकित करता है, क्योंकि कांट जिस जगत् को जानता था, वह हमारे द्वारा जाने गये जगत् की तुलना में, अधिक बहुरूपी और कमियों से परिपूर्ण हैं। किन्तु पूर्वभास की यह शक्ति केवल कांट की विशिष्टता नहीं थी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में अधिकांश महान चिंतक, चाहे उनके विश्वास कुछ भी रहे हों, यथा फ्रांस में संत सिमोन शेटोब्रिआं अथवा मार्क्स ने मानव-इतिहास की नयी लय, एक समाप्त आकाश जिसका प्रत्येक हिस्सा दूरे हिस्सों के प्रति संवेदनशील है, के आगमन के साथ मेल खाता उसका विकट गति-वर्द्धन देखा। और हम कहेंगे कि वह पूर्वाभास हमारे समय तक जब परिवर्तन की गति द्वारा बहुत आगे निकल चुकी कल्पनायें उड़ान भरती हैं निरंतर पुनर्नवीन होती रहेंगी। वलैरी के शब्द— **रिगार्द स्युर ले मोन्द अक्तुअल** (वास्तविक जगत पर दृष्टि) जो 1938 में उसके समकालीनों को बहुत नये प्रतीत हुये, अब हमें इस सरल स्वीकृति से अधिक प्रतीत नहीं होते कि निवास करने योग्य समग्र पृथ्वी हमारे समय में जान ली गई है, उसे हस्तगत कर लिया गया है तथा वह राष्ट्रों में विभक्त हो गई है। बंजरभूमि, खाली क्षेत्र, ऐसे स्थान जो किसी के भी नहीं है, का युग, समाप्त हो चुका है। अब ऐसी कोई चट्टान नहीं रही जिस पर एक झण्डा न फहरा रहा हो, अब नक्शे में कोई खाली स्थान नहीं रहा, कानून और राजस्व की पहुंच से परे कोई क्षेत्र न रहा। ऐसी कोई आदिवासी जाति न रही, जिसके जीवन पर कोई वृत्तचित्र न बना हो, और जो लेखन की जादूगरी के माध्यम से, अपने कार्यालयों में बैठे विभिन्न दूरस्थ मानवतावादियों पर आश्रित न हो। "सीमित विश्व का युग प्रारंभ हो रहा है।" वह आगे कहता है, कि "क्षेत्रों तथा घटनाओं के बीच एक पूर्णतः नवीन एकात्मकता या भाईचारा, अत्यधिक एवं तात्कालिक, इस महत्वपूर्ण तथ्य का स्पष्ट परिणाम है। हमें अब से सभी राजनीतिक घटनाओं का इस नवीनतम सार्वभौम स्थिति से संबंध जोड़ना चाहिए। उसने मानवीय गतिविधियों में अधिकाधिक घनिष्ठ आश्रितता के विषय में भी कहा। यह सत्य है कि वैलरी ने विश्व के इस नवीन अनुभव को एक सुखद अनुभव नहीं माना। उसने सीमाओं की अनुरागी यूनानी भावना की छाप सुरक्षित रखी। उसी अनुच्छेद में उसकी बैचेनी प्रगट होती है। ऐसी कोई दूरदर्शिता और विवेक नहीं है, न ही ऐसी कोई प्रतिभा है जिसे यह जटिलता शीघ्रता से दूषित नहीं करती, क्योंकि बढ़ती नातेदारी तथा संपर्कों के इस ब्रह्माण्ड में, अब पहचानी जा सकने योग्य अवधि, निरन्तरता अथवा कारणता नहीं रही।

यह अभिमत अनदेखा करने योग्य नहीं है। यह निश्चित है कि मनुष्य ज्यों–ज्यों एक दूसरे के निकट आते हैं, त्यों–त्यों अधिक संवेदनशील स्थल स्पर्श किये जाते हैं, किन्तु यह केवल अर्द्धसत्य है। इसकी अपेक्षा क्या यह (सत्य) नहीं है कि चूंकि वे पर्याप्त रूप से बढ़ाये नहीं गये हैं, अतः रिश्तेदारी तथा संपर्क ऐसे हैं कि उनसे भयभीत हुआ जाये? क्या ऐसा इसलिये नहीं है कि मानवीय गतिविधियों में अधिक से अधिक सीमित आश्रितता, मानव–अधिकारों के सच्चे प्रचार–प्रसार में विश्व के पैमाने पर सार्वजनिक आकाश या स्थान की स्थापना में अपना उत्तर नहीं पाती, जिससे विभाजन युद्ध की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई अभिव्यक्ति पा सके? क्या यह इसलिये नहीं है कि प्रारंभिक विशिष्टतावाद का उत्तेजक आंदोलन सभी की निगाहों में अप्रत्यावर्तनीय हो चुका है, सशक्त प्रतिरोध के विरुद्ध तेजी से बढ़ता है, स्थापित धर्मतंत्रों के लिये सुरक्षा के नये साधनों को निर्मित करता है, और उन सभी लोगों के संबंध में जो अपनी दशाओं में मतभेदों के बावजूद, साथी मनुष्यों के रूप में प्रकट होने का खतरा उठाते हैं, बहिष्कार के नवीन साधनों को भी निर्मित करता है? इसका अर्थ है कि यह विचार, स्वतंत्रता के विचार से असंबद्ध नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि शांति के नाम पर, उन लोगों के शोषण के सभी रूपों की गारंटी देना पाखण्ड होगा, जो बाजार के कानून की आड़ में अपने आपको अपने क्षेत्र को संपत्ति से वंचित, और एक प्रगट या प्रच्छन्न तानाशाही के पराधीन पाते हैं। व्यक्तियों तथा अल्पसंख्यकों के प्राथमिक अधिकारों को नकारने वाले सर्वसत्तावाद के सभी रूपों की गारंटी देना भी पाखण्ड है।

आदर्शलोक के प्रतिपादन तथा समकालीन विश्व की अपेक्षाओं को ध्यान में न रखने की सावधानी बरतते हुये, हम असैद्धान्तिक शांतिवाद के साथ शांति के उद्देश्य को भ्रमित न करें, किंतु वास्तविकता के प्रति सतर्क रहते हुये, हम उस चक्कर में भी न फंसे, जिसे वर्तमान संघर्षों का प्रदर्शन जन्म देता है। इसकी अपेक्षा हम यह जानें कि मानवता के भाग्य का फैसला केवल शासक नहीं करते, जैसा कि रूसो ने मान लिया था। यह भी जाने कि मनुष्यों को एक साथ लाने का मौन प्रयास, जो प्रथाओं एवं मानसिकताओं के संचित पारस्परिक ज्ञान, शिक्षा की प्रगति, सूचना के प्रचार–प्रसार, मानव–अधिकारों के विचार की लहर के माध्यम से घटित होना है, व्यर्थ होने के स्थान पर शांति की दिशा में राजनैतिक व्यवस्था के निर्णायक प्रभावों को उत्पन्न कर सकता है। प्रश्न शेष रहता है, क्या ये आशायें छली जायेंगी? किंतु, यदि वे छली जायेंगी, तो रूसो के साथ यह निष्कर्ष निकालने की अपेक्षा कि मूर्खों के बीच विद्वान होने की इच्छा करना मूर्खता है, फ्रायड के साथ सौम्यतापूर्वक यह बताना बेहतर होगा कि काम–भावना मृत्यु की मूलप्रवृत्ति का विरोध करती है, और इस अनन्त संघर्ष में, यह परवर्ती अर्थात् मृत्यु की मूलप्रवृत्ति निर्णायक रूप से अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगी।

2

जातियों का उद्‌गम एवं उनकी विविधता पर नवीनतम सामग्री : आनुवांशिकी का योगदान *

आंद्रे लांगनै

आज के विश्व की विभिन्न जातियों के उद्‌गम और इतिहास को समझना इतना आसान नहीं जबकि वैज्ञानिक आंकड़े अपूर्ण एवं विरोधाभास लिए प्रतीत हो रहे हैं। मोटे तौर पर इनकी तीन श्रेणियां हैं :

- प्रागैतिहासिक आंकड़े जो कि मानव कंकालों और संस्कृतियों के अवशेष हैं। उनसे हमें प्रतीत होता है कि अमुक-अमुक क्षेत्र, अमुक-अमुक काल में बसा हुआ था। यदि वे उपलब्ध नहीं हैं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, और भूतकाल के लोगों के जैविक उद्‌गम के प्रति वे कोई लक्षण भी प्रदान नहीं करते हैं क्योंकि काल के प्रवाह में कंकालों के आकारों और आकृतियों में तेजी से विकास हुए थे;
- वर्तमान आनुवांशिक आंकड़े जातियों के जैविक संबंधों का एवं सम्पूर्ण इतिहास के दौरान किस तरह भिन्न हुई, का रोचक विवरण प्रस्तुत करते हैं। उनकी व्याख्या का मामला जरा नाजुक है, और वह भी विशेषकर जबकि ये कम आबादियों की हों;

---

* André Langaney : Current Data on the Origin and Diversity of Peoples : The contributions of Genetics, ***Diogenes***, No. 131, 1985, PP. 74-84.
अनुवाद : धनराज चौधरी

- "जीव सांख्यिकी" आंकड़ों में वर्णकता के मापन, अंगों और देह के आकार-प्रकारों की अपेक्षा रहती है। इतिहास के दौरान तेजी से आते हुए परिवर्तनों के प्रति वे संवेदनशील होते हैं और मुख्यकर विशिष्ट पर्यावरणः उष्ण, शीतोष्ण, सर्द अथवा आर्कटिक, वन, घास के मैदान, प्रशाद्वल, स्तैपी अथवा मरुस्थल के लिए लोगों के अनुकूलन की ओर इंगित करते हैं।

अतएव रिहायशों के इतिहास को समझने के लिए सबसे पहले तो हमें जातियों के आपसी आनुवांशिक संबंधों को लेना चाहिए, फिर विकास के समय का मापक्रम, और फिर भौतिक लाक्षणिकताओं (चमड़ी का रंग, देह का अनुपात और आकार, शरीर वैज्ञानिक लाक्षणिकताएं) के स्थानीय अनुकूलन को। यह पिछला, विशेषकर तेजी से विकास का परिणाम, जातियों के इतिहास के वृहदाकार पुनर्गठन को बढ़ावा नहीं दे सकता।

इन विषयों पर जिनकी कि चर्चा अन्यत्र [6] की गई है, में विस्तार से गये बिना ही हम वर्तमान शोध के प्रमुख परिणामों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं :

- पहले मानव, जिन्हें कि हमारी प्रजाति का माना जा सकता है 16 से 18 लाख वर्षों पहले के हैं। वे दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, निस्सन्देह यूरोप (औवर्गन की पत्थरों पर कारीगरी) में भी और संभवतया पूर्वी एशिया में रहते थे;

- तब से अब तक सारी ही पुरानी दुनिया में कई जातियां, उपप्रजातियां अथवा मानव की प्रजातियां (उनकी भिन्नता के स्तरों के प्रति हम परिशुद्ध नहीं हो सकते हैं) की रिहायश रही। रिहायशों के मध्य अंतरों के कारण, प्राचीनतम ज्ञान प्रकार (होमो हेबिलिस, होमो इरेक्टस, [पिथेकेंथ्रोप्स]) वर्तमान मनुष्य में तुलना योग्य नहीं लगते। नींनडर थेलियंस, जो कि हमारे समीप के हैं (—120,000 से —35,000), मार डाले जाने के कारण अथवा वर्तमान लोगों में घुलमिल जाने से विलुप्त हो गये।

- आज के जातीय समुदाय, अधिक से अधिक 100,000 से 180,000 वर्षों पूर्व अपनों से ही अलग-थलग हुए थे। जो कुछ हमें ज्ञात है उससे तो लगता है कि आरंभिक विभक्तियां एक पश्चिमी और एक पूर्वी समुदाय के मध्य हुई;

- पश्चिमी समूह के उत्प्रवास द्वारा ही बाद में (−30,000 से −20,000) आज का श्याम अफ्रीकी समुदाय (पिग्मी सहित) प्रकट हुआ।
- मेलानेसियंस और आस्ट्रेलियाई, उसके बाद अमेरिकी भारतीय, अंत में मलायीस और एस्किमो और पॉलिनेसियंस तो पूर्वी समुदाय के उत्प्रवास द्वारा प्रकट हुए;
- श्याम अफ्रीकी लक्षणों एवं अन्य बातों के सम्मिश्रण को बुशमैन प्रस्तुत करते हैं, जिनमें से कुछ पूर्वी समुदाय को उत्पन्न करते हैं। बांटुस और फिर यूरोपवासियों द्वारा निष्कासित किए जाने से पूर्व, संभव है (निश्चित नहीं) कि इनके पुरखों ने अफ्रीका में रिहायश की पहली लहर पैदा की;
- अन्तःकटिबंधीय क्षेत्रों के लोगों की चमड़ी काली और कद छोटे होते हैं जबकि वे लम्बे समय तक (कुछ दसियों हजार वर्षों तक) वैसे पर्यावरण (विशेषकर जंगल) में रहते हों;
- ठण्डे और शीतोष्ण क्षेत्रों के लोगों की चमड़ी का रंग अधबीच का होता है जो कि अक्षांशों में वृद्धि के साथ हल्का पड़ता जाता है। उनकी औसत ऊंचाई में ऊष्णकटिबंधीय से पुरानी दुनियां के उत्तरी भाग और उत्तरी अमेरिका की ओर अथवा दक्षिणी अमेरिका के दूरस्थ दक्षिणी भाग की ओर, कुछ अधिक ठण्डे क्षेत्रों को केवल छोड़ कर, आते हुए वृद्धि होती है;
- अत्यधिक ठण्डे क्षेत्रों (आर्कटिक, साइबेरियाई, अमेरिकी और एशिया स्थित ऊँचे पहाड़ों) के लोग प्रायः नाटे, छोटे बाजुओं के होते हैं और अक्सर अधिक ऊँचाइयों पर सीना तो काफी चौड़ा होता है;
- गर्म मरुस्थलों के लोग प्रायः लम्बे और छरहरे होते हैं;
- यह स्पष्ट है कि, शरीर के आकार और चमड़ी के रंग पर आधारित पूर्व मानवशास्त्र की तथाकथित जातियां (काले, पीले, श्वेत) का जातियों के इतिहास में कोई अर्थ नहीं है। मिसाल के लिए, पूर्वी समूह (मेलानेसियन और आस्ट्रेलियाई) और पश्चिमी समूह (दक्षिण भारतीय, श्रीलंकाई, और नैसर्गिक तौर पर अफ्रीकी) में भी हमें "काले" मिलते हैं;

- यह सारी बातें हमें इस आशय की ओर ले जाती हैं कि आज के जातीय समूह, दो सौ हजार वर्षों से कम वर्षों में प्रकट हुए और पिथेकोंथ्रोप्स जो कि सोलह लाख और 200,000 वर्षों या कम के मध्य के समझे जाते हैं में कोई सम्पर्क होने की संभावना नहीं-सी है। यह प्राक्कल्पना कसौटी पर नहीं चढ़ाई जा सकती क्योंकि प्राप्त आंकड़े अपर्याप्त हैं।

पिछले दस वर्षों के दौरान आनुवांशिकी में किए गए शोध कार्यों के परिणाम स्वरूप ही ये सामग्री प्राप्त हुई है। चिरसम्मत मानवशास्त्री और इन परिणामों में नजर आते विरोधाभास का स्पष्टीकरण इस बात में है कि मानवशास्त्रियों की रुचि तो मनुष्य देह के भौतिक लक्षणों : आकृति, आकार और वर्ण में ही थी। ऋतु, सूर्य, ऊँचाई और अन्य भौतिकीय परिस्थितियों के स्थानीय कारणों से ये लक्षण तेजी से विकसित हुए। जबकि विपरीत्य, आनुवांशिकी लक्षण, जो कि वातावरण के प्रायः निरपेक्ष होते हैं, प्रवजन के कारण, लोगों के विभाजन और सम्मिश्रण के कारण हुए। इसलिए, उनका वितरण स्थानीय अनुकूलन के फलस्वरूप नहीं बल्कि पृथ्वी की आधुनिक आबादी का परिणाम है। अभी तक तो ये इस तथ्य की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।[8]*

कालों के पीले जीन

मानव रिहायशों का जीव-विज्ञान सचमुच में वह विज्ञान है जिसकी नयी तकनीकें और नए आंकड़े पुराने आदर्श और राजनैतिक विवादों को प्रमाणित करने में सहायक हैं। कुछ दक्षिण अफ्रीकी मानव-शास्त्रियों की उदासीनता के लिए वैज्ञानिक अन्यत्रता प्रस्तुत करने की दृढ़ता अथवा आधार रहित "आनुवांशिकी" द्वारा रुचियों में जातीय अंतर के प्रति पूर्वाग्रहों को न्यायसंगत ठहराने की आंग्ल-सैक्सन जातिवादी मनोमितिज्ञों की हठधर्मिता बढ़िया उदाहरण हैं। हमारे नजदीकी, पत्रकार— 'वैज्ञानिक" हों या नहीं भी— पेरिस के एक बहुपठित साप्ताहिक, नाजी सुजननिकी परम्परा के सीधे उत्तराधिकारी इस साहित्य को उपयोग में लेने में नहीं हिचकिचाते हैं, जहाँ आवश्यक समझें वहाँ तोड़ते मरोड़ते हैं; छद्म विज्ञानों अथवा बुर्जआ विज्ञानों की आडम्बरी उद्घोषणाएं करते हैं जिनका अत्युत्तम उदाहरण है समाज विज्ञान।

---

* आगे के पृष्ठ, ज्यूरने देत्युद देला कॉंफ्रिअरेंस सिकोदेअर के दौरान, जेनेवा में, सितम्बर 1983, में दिए गए व्याख्यान का सारांश है।

यहाँ हमारा उद्देश्य मत की पुष्टि के लिये या अचेतन रूप में विज्ञान के दुरुपयोग का विश्लेषण करना नहीं है बल्कि यह बताना है कि किस प्रकार सही दृष्टि के वैज्ञानिकों, लड़ाकू किस्म के नहीं, ने नासमझी में मानव रिहायशों की आनुवांशिकी पर उन द्वारा एकत्र किये गये आंकड़ों को प्रायः अपने रंग में चढ़ा दिया है। जाति के पदों में ही मानव आनुवांशिकीय विरासत की व्याख्या के प्रश्न तक ही हम यहाँ सीमित रहेंगे।

एक पुराना तर्क

जाति और प्रजातियों के पदों में 18वीं सदी से गम्भीर घपले की स्थिति थी, और यह साहित्यिक अर्थ में या अवैज्ञानिक पुस्तकों में अब भी है। बुफोन द्वारा व्यक्त की गई प्रजाति को निम्न स्तर पर लिन्नेउस की तार्किकता से भेद विपर्यय की दृष्टि से सबसे पहले, 1749 में यह "सुविधाप्रद" समझा गया कि "कुछ मानव भौगोलिक समूहों के लिए इस पद को निर्दिष्ट किया जाये। इसकी उत्पत्ति से ही यह "सुविधाप्रद" का ब्लुमैनबाख़ (1775) द्वारा विरोध किया गया क्योंकि इसमें "जो कि प्रकृति में अस्तित्व ही नहीं रखती ऐसी सत्ता की दिमागी रचना करना" खतरा था और हेर्डर द्वारा भी निम्न सूक्ष्मगवेषी उद्धरण (1784) स्मरणीय हैः

"पद **जाति** उत्पत्ति में भेद से संदर्भित है जो कि मानव में अस्तित्व नहीं रखता.... भौतिक वर्ग अन्तर्वेधी है और पैतृक लक्षणों का अनुसरण करते हैं और अंततः तो एक फैले बिम्ब की प्रतिच्छाया होती है जो कि सारे महाद्वीपों और युगों–युगों तक विस्तृत होती है।"

बाद की दो शताब्दियों में इस विरोधाभास के लिए वे ही तर्क लगाए गए जब तक कि 1960 न आ गया तब वस्तुतः नये तत्त्वों [4] का संचयन हुआ। जातियों के "मामलों" को जनसमुदायवादियों और प्रकार–वर्गीकरणवादियों के मध्य विद्वत्तापूर्ण तर्कों में हम समाहार कर सकते हैं : दो प्रकार की स्थितियों के मध्य कई लेखकों (उदाहरण के लिए, डार्विन) का अस्पष्ट और परिवर्ती मन्तव्य रहा।

वर्गीकरणवादियों के अनुसार, विकास के विवरण से वर्गीकरण आया, जिसने तदनंतर वर्गीकरण को समूचा करार दिया। पशु और वनस्पति वर्गीकरण में यह पद्धति बहुत सफल सिद्ध हुई और इसलिए मानव विज्ञान में इसे इसी आधार पर प्रयुक्त किया गया।

रिहायशवादियों के लिए तो, प्रजातियों के स्तरों के मध्य कोई समानता थी ही नहीं, अंतरउर्वरता सम्पन्न कराने वाली कसौटी, और घटिया स्तर तो वर्गीकरण की

जातियों की आनुवांशिकी

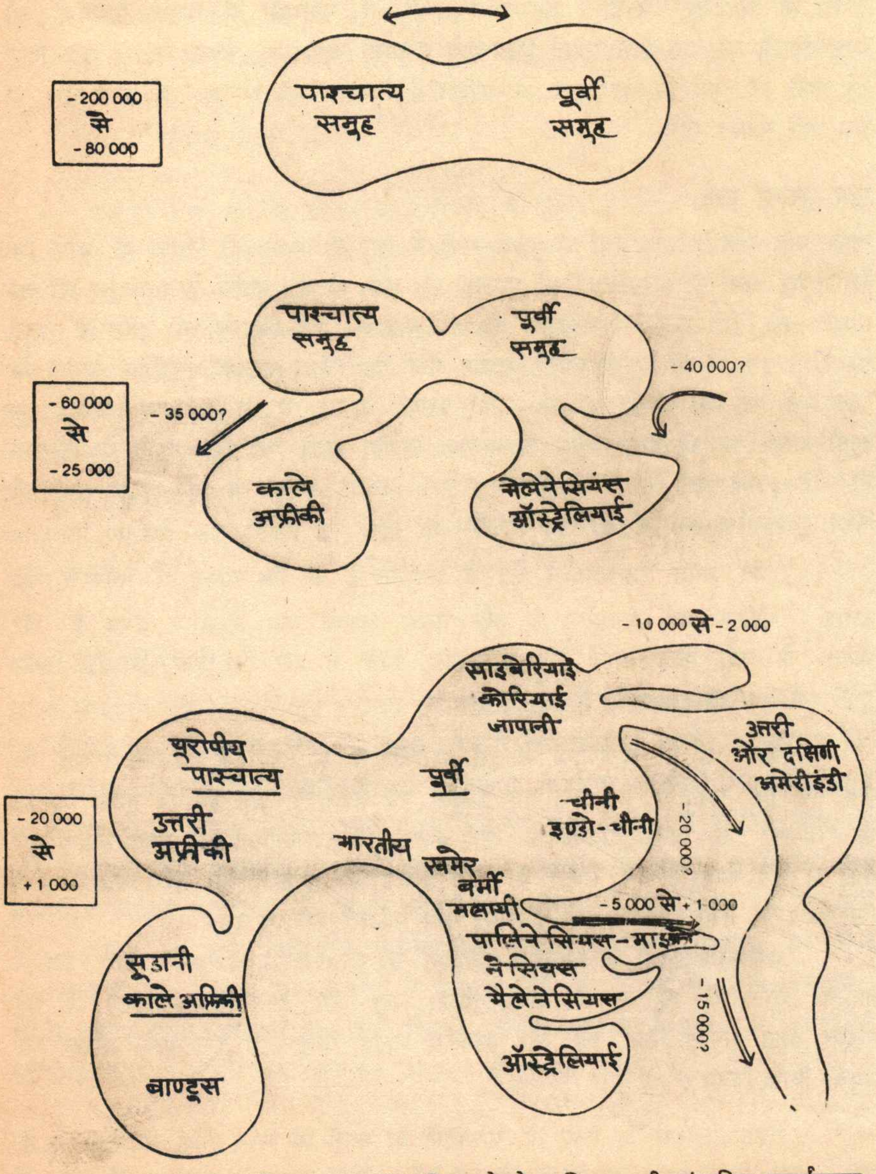

आनुवांशिकी आंकड़ों पर आधारित रिहायशों के इतिहास की संभावित पुनर्संरचना

कसौटियों के सारे लक्ष्यों के लिए कम थे ही। रिहायश के वर्णन में उसकी भिन्नताओं का (बहुरूपवाद या विसंगति) का उतना ही उल्लेख हो जितना कि आभासी साधनों का और विषयपरक "वर्गों" को एक ओर खिसका दें।

वर्गीकरणवादियों की सक्रियता तीन से चार सौ जातियों की मानवीयता के वर्गीकरण गुणन में थी और अब भी है; ये वर्गीकरण अपने आप में ही विसंगति लिए हैं और प्रथम तो अपनाये गये मानदण्ड की प्रकृति पर, उनके पदानुक्रम अथवा संतुलन और अपनाई गई वर्गीकरण तकनीकों पर निर्भर हैं।

जीवांकिकी और लोगों की आनुवांशिकी के विकास द्वारा रिहायशवादियों की सक्रियता दर्शायी गयी थी तथा वर्गीकरणवादियों की सक्रियता सतत् वाद-विवाद द्वारा बताई गई थी।

इस संक्षेपण के सरलतम औपचारिक रूप को महत्व न देना बेईमानी होगी। विशेषकर जीवांकिकी, रिहायशवादी विधियों से "प्राकृतिक" क्रमबद्धता पर पहुँचने का योजनाबद्ध प्रयास अनेकों वर्गीकरणवादियों द्वारा किया गया था। इस भांति दोनों विचारधाराओं में मतभेद शोध के लक्ष्य की प्रकृति अथवा विश्लेषण की विधि में न था बल्कि उस विश्लेषण के परिणामों के निर्मूल द्वंद्व में था।

वर्गीकरणवादियों के नजरिये से, जातियों के मध्य भिन्नता इस भांति की थी कि एक ही प्रकार की जातियों के मध्य विविधताएं तो एक परिभाष्य प्रकार के इर्दगिर्द कुछ उच्चावचन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

रिहायशवादियों के लिए, एक से लोगों के व्यष्टियों के मध्य अंतर कुछ उसी मात्रा का हो सकता है जैसा कि लोगों के मध्य क्रमबद्ध अंतरों का है, लोगों की भिन्नताएं अध्यारोपित थीं, इस तरह के प्रकारों की परिभाषाएं भ्रमात्मक एवं स्वेच्छाचारी हो गईं।

उपेक्षित मेण्डेल

मेण्डेल के नियमों, जो कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में फैले, का मानव और उसके सारे जीववैज्ञानिक दाय योग्य लक्षणों के लिए सर्वसम्मत माने जाने में कई दशाब्दियां लगीं। ए बी ओ रक्त समूहों के मेण्डेलियन सम्प्रेषण के इस सदी के आरम्भ में अन्वेषण को लम्बे समय तक कपोल कल्पना माना गया था क्योंकि यह बेजोड़ था और जातीय विविधताओं को स्वयं नहीं प्रदान कर सका था। यह तो एक "विशिष्ट स्थिति" थी जिसका यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि आनुवांशिक संयोजन

और आनुवांशिक बहुपद जो कि ड्रोसोफिला में अन्वेषित हुए थे, के सिद्धान्त मानव पर लागू होते थे। फिर भी ज्ञान तो था ही, मेण्डेलियन सिद्धान्त मनुष्य पर लागू हुए जैसे कि किसी लैंगिक जाति पर होते हैं; इस तरह जबकि जातियों का पूर्णतः आनुवांशिक पृथक्करणन था बहुपद लक्षणों के लिए जातीय प्रकार का सम्प्रेषण नहीं हो सकता था।

जीनों के समूह द्वारा परिभाषित और जिन लक्षणों को निर्धारित किया गया है उनके द्वारा मानवीय आनुवांशिक विविधताएं प्रक्रिया-प्रकार अथवा आनुवांशिक-प्रकार के स्तर पर एक व्यष्टि को मात्र परिभाषित कर सकती हैं। एक रिहायश अलग थलग व्यक्तियों का समूह मात्र था, संभावितों का एक नमूना जो कि सांख्यिकी स्तर के अतिरिक्त अन्य नमूने के तुलनीय नहीं है।

अन्य क्षेत्रों के आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता से सम्पन्न जीववैज्ञनिक (जैसे अलेक्स कॉरेल 1935 में) [2] भी आज जिसे हम स्वाभाविक समझते हैं, नहीं समझ पाये थे, वर्ग के सम्प्रेषण की धारणा उन्हें संदेहरहित जान पड़ी।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है [5] सड़क के आदमी के लिए जातियों को जो परिभाषित करता है (और उस वैज्ञानिक के लिए जो कि प्रयोगशाला तक ही सीमित नहीं रहा है) वह उन व्यष्टियों की तुलना है जो कि भौतिक रूप से और प्रायः सांस्कृतिक तौर पर भिन्न है। [7] व्यवहार, भाषा, पहनावा और क्रियाकलापों में अंतर तो भौतिक भिन्नताओं के बोध के साथ जुड़े हुए हैं। एक औसत फ्रांसवासी के लिए, एक "काला" पूर्व उपनिवेश का बाशिन्दा है जो कि टॉम-टॉम की ध्वनि पर नाचता है, जो कि विशेष प्रकार की ऊनी टोपी पहनता है, स्वरों से लदी हुई अटपटी भाषा जो बोलता है और जो कि "बनानिया" की भांति मुस्कराता है,जो कि सड़क साफ करता है और बात करते समय आँख मिलाने की हिमाकत नहीं करता है। कुछ परिस्थितियों में उसका चाम काला भी हो सकता है।

इस दृष्टिकोण की विश्वजनीन मान्यता अंशतः यह बतलाती है कि क्यों प्रतिरक्षणवादी और आण्विक जीव वैज्ञानिक जिन्होंने कि पिछले बीस वर्षों में मानव जीव-विज्ञान पर मौलिक अन्वेषण किए हैं अपने निष्कर्षों में क्योंकर प्रायः भटक जाते हैं। उनके लिए, प्रकार का प्रत्यय विचार योग्य भी नहीं है और उनके अन्वेषण ही इसकी पुष्टि करेंगे।

1960-1975 : प्रथम प्रतिरक्षणवादी क्रांति

पर्याप्त समय तक अप्रयुक्त रहा, ए बी ओ समूहों का अन्वेषण, युद्ध से पूर्व और उसके उपरान्त लाल गोलिकाओं द्वारा लिए जाने वाले अन्य समूहों जैसे कि थेसस-तंत्र

ने फिर से गति पाई। यह तो हाल ही 1960 में, जबकि "सेरिक समूह (सेरम समूह का रक्त)" का समानांतर अन्वेषण हुआ तब विश्व के लोगों में इन लक्षणों की भिन्नताओं का क्रमबद्ध अध्ययन आरम्भ हुआ।

"हेमोटाइपोलॉजी" पद, जो कि इस विधा के फ्रांसनिवासी अग्रणियों द्वारा चुना गया है, अपने लक्षणों को स्पष्टतः व्यक्त करता है : लोगों के रक्त समूह संस्थापित किये जा रहे थे, काले, श्वेत, पीले और ऐसे ही अन्य रक्त के पिपेट मापक्रम द्वारा विस्तार से भिन्न ठहराये जा रहे थे। उस समय के प्रकाशन पीले, काले, श्वेत जीनों से भरे पड़े हैं जो कि लगभग तीस पिपेटों के द्वारा आये थे, ये जल्दी में ही आइवरी कोस्ट या मेक्सिको से भेजे गये थे, जिनके द्वारा वे प्रक्रिया प्रकार (फीनोटाइप) ठहराये गये थे जो कि यूरोप अथवा अमेरिका में सामान्यतया नहीं थे। इसका क्रमवार गंभीर एक निष्कर्ष यह रहा कि असामान्य विदेशज प्रकार, जो कि अतिमूल्यवान सीरम द्वारा या कठिन जोड़तोड़ द्वारा प्रमाणित हो सके, को ऐसे नमूनों में ढूंढा गया जहाँ पूरी संभावना बनती थी, और इसने उनकी इस धारणा को बल प्रदान किया कि जिन जातियों में वे वस्तुतः देखे ही नहीं गये उनमें इनका अभाव है।

उस समय की अन्य सक्रियता थी कि उन जातियों की जिनका कि एक ही उद्गम हो सकता था के लिए बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की जातियों के मध्य सादृश्यता ढूंढना।

हेमोटाइपोलॉजी के थॉर हेअरडाल्स ने व्यर्थ में दक्षिणी अमेरिका की पॉलिनेसियन बस्तियों की तलाश की और तेजी से मेलानेसियनों में जिनके उलझे बाल और काले चर्म हैं, में अफ्रीकी जीन पाये। यह पिछला अन्वेषण तो जल्दी ही निर्मूल हुआ, काले मेलानेसियनों के तो "पीले जीन"[6] ही निश्चय रूप से हैं।

प्रतिरक्षणवादियों और मानवशास्त्रियों में 1970 में मेलजोल बढ़ा जिससे बचे हुए काले, पीले और श्वेत जीन भी— हब्शी, मंगोल, कॉकेशियन भी आ गये— यह भी उतना ही त्रुटिपूर्ण है फिर भी मानव समूहों के इतिहास से कम विचलित है। रक्तदाताओं पर इस काल में की गई अनेक पूछताछों के फलस्वरूप या बस्तियों के आनुवांशिकों द्वारा स्थानीय भिन्नता का अध्ययन ही जीनों के रंग को निश्चय ही मिटा देगा : पाइरेनीज में या नॉरमेण्डी में श्वेत और पीले जीन पाये गये, और झाड़ी में गहरे सीनेगेलेस में "श्वेत जीन" या "पीले जीन" का दस प्रतिशत बताया जा सकता है। इस भांति जीनों का कोई वर्ण नहीं है जैसे कि चांदी की कोई गंध नहीं है।

जातियों में जीन भिन्नताओं की नवीनतम दृष्टि यह है कि वे सर्वत्र ही हैं मगर परिस्थिति के अनुरूप भिन्न मात्रा के हैं। आज के मनुष्य समूहों में जीन विनिमय उनके पूर्व इतिहास से ही रहा उसकी यह संभावना इस से व्यक्त हुई और इस परिकल्पना को कि जातीय भिन्नताओं का अनुभव हाल ही का है को पुष्ट किया; अधिक से अधिक 2,00,000 वर्षों का नै और रॉय चौधरी के अनुसार। विपरीत्य, "चिरसम्मत मानव शास्त्री" और उनके जातीय समर्थक दस लाख से भी अधिक वर्ष मानते हैं ताकि होमो सेपियन की अवस्था बहुत-बहुत पहले ही प्राप्त करने की श्वेतों की श्रेष्ठता बनी रहे। सारी ही नैतिक और दार्शनिक स्थितियों से परे, "बहुकेन्द्रिक" सिद्धान्त किन्हीं गम्भीर कारणों पर नहीं टिका है जो कि हमारे जीन संबंधी ज्ञान का पूरा-पूरा सम्मान कर सके।

1975-1980 : व्यष्टि का बेजोड़ होना

प्रतिरोपण की संगति पर हुए शोध कार्यों से संबंधित सैलों के प्रतिरक्षण समूहों का अन्वेषण (एच एल ए समूह) जो कि 1935 [2] से ही प्रतीत हो रहा था को समझ जाने से इस धारणा का पता चला। डीऑक्सी-राइबोन्यूक्लिक तेजाबों (डी एन ए) की बनावट में भिन्नताओं पर हुए हाल के अनुसंधानों से इसकी पुष्टि हुई है। एक प्रदत्त जनसंख्या में कुछ जीन तंत्रों में इतनी विविधता होती है कि दो व्यक्तियों को जो कि आनुवांशिक तौर पर समान हैं प्राप्त करना, समरूप जुड़वां को छोड़कर, व्यवहार में असम्भव सा हो जाता है। इस व्यष्टि विविधता का एक प्रतिफल यह है कि अधिकांश जीन या जीनों के संयोजन रिहायशों में असामान्य हैं, जैसा कि इबिंस ने सैद्धांतिक मॉडल [3] को प्रयुक्त कर प्रस्तावित किया है। व्यवहार में, परिणाम यह है कि एक रिहायश में जीन या जीनों के संयोजन की अनुपस्थिति को हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं, जब तक कि इसके सारे सदस्यों की जांच न की जाये, जो कि प्रायः नहीं होती है। इसके अतिरिक्त, बहुत सारी घटनाएं तो मापने के लिए अनुपलब्ध रह जाती हैं क्योंकि विश्लेषण खर्चीले होते हैं और विरले लक्षणों की रिहायशों के प्रतिनिधित्व के लिए अध्ययन किये गये नमूने अपर्याप्त होते हैं।

"कोशिका विज्ञान प्रकारवादियों" के नए दल को भी हम देखते हैं जो कि दुनिया की छानबीन कर रहे हैं कि दर्जनों लोगों के ऐसे नमूने उपलब्ध किए जाएं और घोषित करें कि एच एल ए तंत्र में पीले, काले और श्वेत जीनों का अस्तित्व है, जैसा कि **ला रशरशे** [1] ने डी एन ए में सूत्र विभाजन को शीघ्रता से लिया था। ऐसी जानकारी असत्य मात्र ही नहीं है; इसकी प्रकट आधुनिकता के कारण प्रायः पुराने पूर्वाग्रहों को बल मिलता है, जिनका कि समूह अवचेतन से उन्मूलन कर देना बहुत कठिन है। व्यष्टि का आनुवांशिक तौर पर बेजोड़ होना, प्रकार का असंप्रेष्य होना और

मानव जीन संरचना का वैविध्य आदि धारणाएं जन प्रतिवेदनों और सहजज्ञान के, पृथ्वी का अपने अक्ष पर घूर्णन करने से, कहीं अधिक विपरीत हैं। जातियों की आनुवांशिकी, जो कि सभी के मूल में है, वस्तुतः भिन्न तकनीकी लिया हुआ कठिन विज्ञान है जिस पर इस विधा में विकसित पत्रकारों या आण्विक जीव वैज्ञानिकों द्वारा गठन किए-बिना भी पूर्ण अधिकार प्राप्त किया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से, इस क्षेत्र के विशिष्ट गठन गोपनीय ही रह जाते हैं। जातीय लक्षणों या आनुवांशिक अंतरों से संबंधित सारी बातों पर शिक्षा के सारे स्तरों पर चुप्पी साध ली जाती है, जैसे कि इस प्रकार की अध्ययन की विषय वस्तु से नई वैज्ञानिक जातीयता की जागृति का खतरा होगा, जबकि विषय पर अत्याधुनिक अन्वेषणों द्वारा ही इसके मूलाधारों को नष्ट किया जा सकता है।

पुस्तक संदर्भ

1. ब्लांक, एम., "लिस्तुआर जेनेतीख़ दे लैस पेस युमेयन" ***ला रशरशे,*** 155, 1984, पृ.सं. 654–69.
2. कैरेल, ए., "लॉम्ब सेत अंकून्यु ", प्लोन, पेरिस 1935.
3. इविन्स, डब्ल्यु. जे., "दि सैम्पलिंग थ्योरी ऑव सैलेक्टिवली न्यूट्रल एलेलिस" ***थ्योरी. पोप्यु. बाइलॉजि*** 3, 1972, पृ.सं. 87–112.
4. लांगनै, ए., "ले रेसयूमेन देला कोमोदिते ए लागरेशियो" ***आब्जैक्त ए मोन्द,*** 16, 1, 1976, पृ.सं. 13–26.
5. लांगनै, ए., "ला कादरात्युर दरेस", ***सिआंस ए वी,*** विशेष संस्करण, ***जैनेतीख़ ए आंथ्रोपोलोजी,*** 1977, पृ. सं. 83–127.
6. लांगनै, ए., "दिवरसिते ए तिस्त्वार यूमेन", ***पोप्यूलेशन,*** 6, 1979, पृ.सं. 955–1006.
7. लांगनै, ए., "कों प्रांद लोत्रिस्म", ले ज्यान्र यूमेन, 1, 1954, पृ. सं. 94–106.
8. लांगनै, ए., "ला नोवेल दयेमोग्राफी दे लेवोलिस्यों" ***पोप्यूलेशन,*** 3, 1954, पृ.सं. 587–606.
9. लांगनै, ए., नै, एम. और रॉय चौधरी, ए. के., "जैनेटिक वैरियेशन विदिन एण्ड बिटवीन द थ्री मेजर रेसेज ऑव मैन, कोकेसोइड, नीग्रोइड एव मन्गोलॉइड" ***अमे. जे. ह्यूम. जैनेट*** 26, 1974, पृ. सं. 421–423.
10. लांगनै, ए., थोमा, ए., "न्यू एवीडैन्स फार द पोलिसैन्ट्रिक इवोल्यूशन ऑव हामोस्पाइन्स", ***ज. ऑव. ह्यूम. इवोल.,*** 2, 1973, पृ.सं. 529–36.

3

पैरललॉजिक : बुद्धि और संदर्भ का सामना *

बारबारा गेल हानसन **

> "बिल्ली ने कहा, पहले तो कुत्ता पागल नहीं है इतना तो मानते हो? एलिस बोली, हाँ। बिल्ली ने आगे कहा, ठीक, तब जब कुत्ता क्रुद्ध होता है तब तुम देखती हो कि वह गुर्राता है और जब वह प्रसन्न होता है तब वह अपनी पूँछ हिलाता है। अब जब मैं प्रसन्न होती हूँ तब गुर्राती हूँ और जब मैं क्रुद्ध होती हूँ तो पूँछ हिलाती हूँ। इसलिये मैं पागल हूँ।"
>
> (कैरोल, 1981 : 47–48)

बुद्धि तथा संदर्भ के बीच सम्बन्ध का पैरललॉजिक एक मॉडल प्रस्तुत करता है। ऊपर प्रस्तुत उद्धरण से संकेत मिलता है कि तर्क की प्रणालियां संदर्भ विशिष्ट होती हैं और इसीलिये परस्पर समानान्तर होती हैं। इस मॉडल से यह पता चलता है कि मानसिक प्रक्रिया अथवा तर्कना में जो विस्थापन देखा जाता है वह वास्तविक से अधिक आभास होता है। उससे मानसिक प्रक्रिया में विघटनों को मानसिक प्रक्रिया में परिवर्तनों से अलग रख कर मानसिक व्याधि की समझ का नया रूप ध्वनित होता है।

पैरललॉजिक दो व्यापक विचार प्रणालियों को जोड़ता है— जनरल सिस्टम थ्योरी (जी.एस.टी.) तथा कन्स्ट्रक्टिव विचार प्रणाली। जब व्याख्यापरक क्षमताओं की

---

* Barbara Gail Hanson : Parallogic : As Mind Meets Context, ***Diogenes,*** No. 147, Fall 1989, pp. 77-91.
अनुवाद : वीरेन्द्र शुक्ल

कन्स्ट्रक्टिविस्ट पहचान के साथ जी.एस.टी. के (अंशों के) योगाधिक सिद्धान्त को जोड़ने पर मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण के लिये एक नई दृष्टि उभरती है उसे पैरललॉजिक कह सकते हैं।

मानसिक प्रक्रिया के अध्येताओं ने मन और मस्तिष्क (फिशर 1987), व्यक्ति और समाज (मीड 1962) के बीच वैचारिक सीमा की समस्या से टक्कर ली है। मन और संदर्भ के बीच सम्बन्ध निर्धारित करने वाले— एक मॉडल को विशद् रूप में स्पष्ट करते हुए इस प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया को और आगे ले चलता हूँ। व्यक्ति और समाज के बीच उनकी अयोग्यता के कारण कोई सम्पर्क बिठा सकने में समस्या के प्रति पारंपरिक प्रयास में निरन्तर बाधा पड़ती है।

मस्तिष्क, मन, व्यक्ति और समाज का अध्ययन अवधारणाओं की अविरल श्रृंखला न होकर उनकी धुरीकृत संहति है। समाजशास्त्रीय विचार प्रणालियों में इसे पिण्ड बनाम ब्रह्माण्ड एवं वृहद् समुदाय बनाम लघु समुदाय के अन्तर में रूपायित किया गया है। यह अवधारणा समाज-मनोविज्ञान में एक अन्तराल उत्पन्न करती है जिसको मैं एक अपरम्परागत प्रणाली अर्थात् जी.एस.टी. द्वारा भरने का सुझाव रखता हूँ।

जी.एस.टी. प्रणाली में सभी वर्ग के परिदृश्यों को समेटने की क्षमता है। युग्म से लेकर किसी आकार के वर्ग अथवा समाज को इसमें समेटा जा सकता है। यह सम्भावना जी.एस.टी. के एक आधारभूत सिद्धान्त पर आश्रित है जिसके अनुसार अवयवी अपने अवयवों के योग से अधिक होता है। दो अथवा दो से अधिक अवयवों के किसी भी सिस्टम में विकासशील समग्र संदर्भ है। इस प्रकार यह सम्भव है कि एक स्तर के विश्लेषण पर प्राप्य सूझ किसी भी स्तर के विश्लेषण पर प्रयुक्त की जा सकती है। प्रणालियों के रूप किसी भी सिस्टम के लिये प्रासंगिक होते हैं। जी.एस.टी. में किन्हीं मान्यताओं का समावेश भी नहीं होता। इसलिये इसके वैचारिक उपकरणों का प्रयोग विभिन्न सैद्धान्तिक नियमों के साथ किया जा सकता है। संदर्भ की जी.एस.टी. एवं मानवीय यथार्थ की संरचना के धर्मों की संरचनात्मक अवधारणा के बीच सीधा सम्बन्ध स्वीकार कर लेने से इसका वर्तमान रूप में प्रचलित विमर्श पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध की वैचारिक निष्पत्तियों को पैरललॉजिक रूपायित करती है तथा मानसिक रुग्णता की अवधारणाओं के लिये निहितार्थों की ओर इंगित करती है।

पैरललॉजिक का संकेत है कि यथार्थ वास्तविक हो सकता है परन्तु अर्थ विषयि गत होता है और इसलिये संदर्भ विशिष्ट। इस विचार का समर्थन

रचनात्मकतावादी चिन्तन और जी.एस.टी. प्रणाली द्वारा किया गया है। रचनात्मकतावादी दृष्टि में केवल— एकाकी वस्तुनिष्ठ यथार्थ जैसी कोई चीज नहीं है। "मनुष्य–केवल मनुष्य ही–अपने सोच, अपने ज्ञान और इसलिये जो कुछ वह करता है उसके लिये भी उत्तरदायी होता है (फॉन ग्लाज़ैर्सफैल्ट 1984 : 17)। मनुष्य ऐसी उपयुक्तता की खोज में रहता है जिससे अपने पूर्व अनुभवों के बीच किसी मात्रा में नैरंतरिकता बनाये रख सके और अनुभव के प्रवाह में संगति का प्रयास कर सके (फॉन ग्लाज़ैर्सफैल्ट 1984 : 39, के इस विचार को लास्लो भी मानता है)। रचनात्मकतावादी योजना में यथार्थ अत्यन्त विषयीगत है एवं उपायों के नवीनीकरण की गतिशील प्रक्रिया है (फॉन फोरस्टर 1984)। यह अवधारणा सत्तामूलक यथार्थ के अस्तित्व का निषेध नहीं करती और न ही उसे चुनौती देती है अपितु यह "अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया की ओर ध्यान देती है जो यथार्थ के विषय में सूचना उत्पन्न करती है" (फिशर 1985 : 50)।

रचनात्मकतावादियों की यथार्थ सम्बन्धी अवधारणाओं में जी.एस.टी. प्रारूपों के सहारे संदर्भ की विशेषतायें स्पष्ट करता है। अर्थ, व्यवहार के वर्गीकरण सह–उद्‌भूत विषय हैं, इस अर्थ में वे विशिष्ट संदर्भों में सृजित हैं। मनुष्य की व्याख्यात्मक क्षमताओं से अभिप्राय व्यक्तियों के परस्पर उन संदर्भों से है जो विषयिगत हैं और इसलिये अत्यधिक विचित्र हैं (फ्रिश्कनैरव्ट द्वारा पुष्ट, 1987)। तर्क एवं मानकों की प्रणालियां दोनों ही सामाजिक संरचनाओं से विशिष्ट संदर्भ हैं, जिनके अन्तर्गत उनके निजी तर्क के आधार होते हैं। यथार्थ, विवेकपूर्ण, अथवा मानक–सम्बन्धी निर्णय हेतु अब तक कोई सर्वमान्य आधार नहीं स्थापित किया जा सका है। सैद्धान्तिक मिसाल के रूप में ऐसा कोई उदाहरण नहीं दृष्टिगोचर होता जिससे पूर्णतः यथार्थ की संज्ञा दी जा सके, फिर भी बहुत सी ऐसी वास्तविकताएं हैं जो संदर्भ विशिष्ट हैं। इसलिये तर्क की प्रणालियों को न तो सुस्पष्ट अथवा सापेक्ष अर्थ में गलत प्रमाणित किया जा सकता है। वैचारिक तौर पर तर्क की प्रत्येक विशिष्ट पद्धति में ऐसी संभावनाएं निहित हैं कि तर्क अन्य पद्धतियों के साथ भिन्नता प्रदर्शित करने के बजाय एक समानान्तर रेखा प्रस्तुत करते हैं— अतः "पैरललॉजिक" पद का प्रयोग। तर्क की प्रणालियां इस अर्थ में समानान्तर हैं कि वे एक ही वस्तुगत स्रोत से न निकलकर भिन्न स्रोतों से निकलती हैं। वे अपने विशिष्ट आरम्भिक बिन्दु से चलकर रेखाकार अथवा तार्किक ढंग से निरन्तर बढ़ती हैं।

रेखाचित्र 1 में पैरललॉजिक की अवधारणाओं को एक चित्रात्मक रूप में दर्शाया गया है। यह रेखा इस विचार को प्रदर्शित करती है कि तर्क एक सृजन है जो

आभ्यान्तरिक रूप में न तो सही है और न गलत। समग्र व्यवहार अपनी प्रणाली के अनुसार—युक्तियुक्त होता है (साटिर 1967)। हर प्रणाली में तर्क का आधार उसका अपना होता है अर्थात् एक विशिष्ट आरम्भिक बिन्दु। इन विशिष्ट आरम्भिक बिन्दुओं से प्रसूत तार्किक प्रणालियां अपने अपने ढंग से अग्रसर होती हैं। तर्क प्रणालियां समूहों के बीच होने वाले परिवर्तनों एवं व्याख्याओं की प्रतिमान प्रक्रियाओं पर आधारित होती हैं और इसलिये वस्तुनिष्ठ यथार्थ से परोक्ष अनुरूपता प्रदर्शित कर सकती हैं।

पैरललॉजिक से यह संकेत मिलता है कि तर्क प्रणालियों के मध्य भिन्नता यथार्थ में न होकर आभास हो सकती है। अर्थ सृजन की प्रणालियां, व्यवहार के लक्षण एवं वर्गीकरण उस संदर्भ से आबद्ध होते हैं जिनमें उनका उद्भव होता है। जब वे किसी भिन्न तर्क प्रणाली से निर्णीत होते हैं तभी अबौद्धिकता के निर्णय, अनुपयुक्तता, समस्या अथवा भूल वैध प्रतीत हो सकती हैं। वाटश्लाविक ने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट चित्रित करने के लिए कोनरेड लॉरेंज की मिसाल पेश की कि कैसे उसने बतख़ के बच्चों पर किसी व्यवहार को आरोपित करने के परीक्षण करने के लिये अपने अहाते में बतख़ों जैसी क्वाक्, क्वाक् ध्वनि करना समाप्त किया था। लारेंज ने सर उठाकर देखा तो राहगीर उसकी अजीब हरकत आश्चर्य से देख रहे थे (1967 : 20)। इस संदर्भ में उसके व्यवहार की यह व्याख्या अतार्किक अथवा अविवेकपूर्ण लगती है क्योंकि राहगीरों को लॉरेंज के उक्त आचरण के मूल में क्या संदर्भ छिपा है इसकी कोई जानकारी न थी। सहजबोध की खाइयों को पाटने के लिये खास तौर से निदान का प्रश्न उठ खड़ा होना प्रासंगिक है।

पैरललॉजिक तथा निदान

व्यवहार के संदर्भ में पैरललॉजिक दृष्टि का अर्थ यह है कि समझदारी अथवा गैर-समझदारी की बात केवल उससे सम्बन्धित तर्क की प्रणाली के संदर्भ में कही जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्गीकरण के पूर्व यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि आचरण का स्वाभाविक संदर्भ क्या है ? अन्यथा तर्क प्रणाली से जो कुछ भी व्यतिक्रम दृष्टिगत होगा वह भ्रमात्मक होगा। रेखाचित्र 1 इस बात की चित्रात्मक अभिव्यक्ति है कि एक ही आचरण की भिन्नता कितनी मात्रा में तार्किक व्यवहार से कैसे अलग दिखाई देती है और किस प्रकार निरीक्षक सुविधाजनक बिन्दु पर यह निर्णय कर लेता है कि यह व्यवहार तर्क विपरीत अथवा पैरललॉजीय है।

जब कोई व्यवहार वस्तुतः तर्क की भिन्न प्रणाली से उत्पन्न होता है तब वह तर्क विपरीत अथवा विचलित प्रतीत होता है जिसके परिणाम स्वरूप निरीक्षक सापेक्षिक

समझदारी के प्रति निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि व्यवहार का मूल स्रोत क्या है। दिग्भेद के विचार के साथ इस धारणा का मेल बैठाया जाता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी (1975 : 610) में दिग्भेद (पैरललैक्स) शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है— "किसी विषय का आभासी विस्थापन" जिसका कारण निरीक्षण के बिन्दु का वास्तविक परिवर्तन होता है। जब अवलोकन बिन्दु बदल जाता है तब विषय गतिशील प्रतीत होते हैं। पाठक स्वयं इस घटना का अनुभव अंगुली को चेहरे से कुछ इंच दूर रखते हुए कर सकते हैं, इस क्रिया के साथ बारी–बारी से उन्हें बांयी और दाहिनी आंख मूंदनी पड़ेगी।

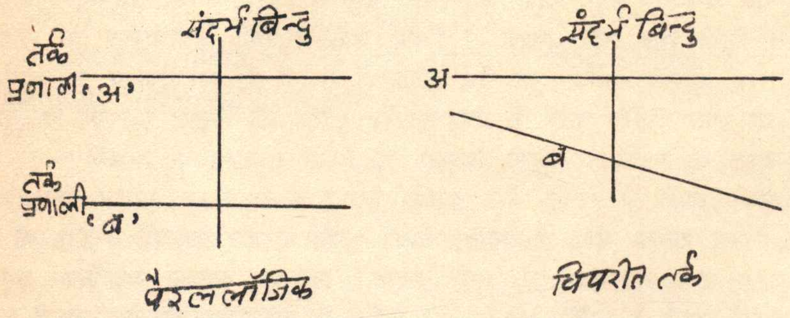

रेखाचित्र 1 : बौद्धिकता का पैरललॉजीय अवधारणीकरण

पैरललॉजिक दृष्टिकोण से इस विचार को अन्तर्वैयक्तिक संदर्भों से सम्बद्ध किया गया है। यदि आचरणकर्ता का उद्देश्य भिन्न है और निरीक्षक उस आचरण का अवलोकन भिन्न संदर्भ में करता है तो निश्चित ही वह आचरण भिन्न लगेगा ही, अथवा जैसा हामबुरगर का सुझाव है कि "प्रकृति को दो भिन्न दृष्टियों से देखने पर वस्तु विशेष की छबियां भी दो प्रतीत होती हैं" (1987 : 35)। वर्तमान चर्या का संकेत अंतर्वैयक्तिक संदर्भ है जिनमें अवलोकनकर्ता और संभावित रोगी दोनों ही समाकलित हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि जो कुछ भी व्यवहार परम्परागत रूप से "विवेकहीन" माना गया है वह व्यवहार "असंगत" हो सकता है (एग्न्यू एवं ब्राउन 1986 : 160) और जो तर्क की समानान्तर प्रणाली में स्थित है।

पैरललॉजीय योजना के अन्तर्गत व्यवहार को सही रूप में केवल दो वर्गों अर्थात् अन्तर्वैयक्तिक संदर्भ की अपेक्षा से विवेकपूर्ण अथवा विवकेहीन, में ही रखा जा सकता है। इसलिये व्यवहार का सही वर्गीकरण करते समय पहले यह देखना

आवश्यक है कि वह संदर्भ कौनसा है जिससे इस व्यवहार का सम्बन्ध है ? इस व्यवहार का उद्‌गम क्या है ? और दूसरा चरण यह होना चाहिये कि उस संदर्भ को उद्‌घाटित किया जाय जहां से उसका निरीक्षण और वर्गीकरण किया जा रहा है। यदि उद्‌गम का और वर्गीकरण का संदर्भ एक ही है तब इस संदर्भ की तार्किक प्रणाली की अपेक्षा से व्यवहार की तार्किक अथवा अतार्किक, उचित या अनुचित, सार्थक अथवा निरर्थक, सामान्य अथवा असामान्य कहना वैध प्रतीत होता है। इस अवस्था में यदि व्यवहार को अतार्किक, अविवेकपूर्ण, निरर्थक अथवा असामान्य बताते हैं तब ऐसे व्यवहार के लिये जैव अथवा मानसिक कारण की खोज वैध होगी।

विकल्प के रूप में यदि संदर्भ का उद्‌गम और संदर्भ का वर्गीकरण समान नहीं है तो यह उपयोगी होगा कि उद्‌भव के संदर्भ के आन्तरिक तर्क को खोज निकाला जाय जिससे कि यह निश्चय हो जाय कि व्यवहार अतार्किक है अथवा वस्तुतः पैरललॉजीय है जिसका मूल कोई भिन्न तार्किक प्रणाली है। इससे यह ध्वनित होता है कि किसी व्यवहार के अन्तनिर्हित कारण को निश्चित करने में अतार्किक व्यवहार को पैरललॉजीय से अलग करना आरम्भिक चरण है।

व्यवहार के रोग सूचक अथवा सामान्य या स्वस्थ होने का पता लगाने की प्रक्रिया में दो प्रकार के निदानकर्ताओं की आवश्यकता होती है जो घनिष्ट सम्बन्धी और चिकित्सक हों। दोनों ही इस तथ्य का पता लगाते हैं कि क्या व्यवहार समस्याग्रस्त है और कौन से उपाय अथवा उपचार से अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। समझदारी इसी बात में प्रतीत होती है कि इन दोनों वर्गों के तर्क की प्रकृति और उद्देश्य का परीक्षण कर लिया जाय ताकि रोग को परिभाषित करने की प्रक्रिया में सहायक हो सके।

निदानकर्ताओं के रूप में घनिष्ट सम्बन्धी

मैंने निदानकर्ताओं के रूप में घनिष्टजनों के बारे में बात करना जानबूझकर पहले किया है। प्रक्रिया में किसी चिकित्सक के प्रवेश से पूर्व परिवार के लोग अपना निदान दे देते हैं तथा व्यवहार को रोगात्मक और किसी स्थिति से रोगात्मकता को जोड़ कर वर्गीकृत कर देते हैं। पॉलनर और मेक डॉनाल्ड विक्लर (1985) ने जैसा दर्शाया है कि "दूसरे मत की प्राप्ति करने" की प्रथा से परिवार के लोगों को यह अवसर प्राप्त होता है कि वे उस निदान और उपचार को प्रस्तावित करें जिसे वे चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वस्तुतः परिवार के लोग निदान एवं उपचार को गति देते हैं—आरम्भ करते हैं, धीमा करते हैं, बढ़ाते हैं, बदलते हैं और समाप्त कर देते हैं।

अभिन्न सम्बन्धियों की व्यवहार के निरीक्षण की प्रक्रिया में एवं वह (व्यवहार) समस्यामूलक है अथवा नहीं है, यह वर्गीकरण करने में और क्या उपचार करना है इसमें उनकी निर्णायक भूमिका होती है। इमर्सन और मैसिंजर ने उस प्रक्रिया की ओर इशारा किया है जिसमें 'परेशानी' को परिभाषित किया जाता है एवं उससे निपटने की तैयारी की जाती है (1977)। परिवार के बाहर बहुधा उनके द्वारा सत्यता खोजी जाती है जो सम्भावित रोगी से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। यह बात उस अवस्था में अधिक स्पष्ट होती है जब 'परेशानी' व्यतिक्रम का रूप ले लेती है और ऐसे लक्षण प्रदर्शित करती है जो सामाजिक रूप में अनुपयुक्त व्यवहार के होते हैं, जैसे वृद्धावस्था में स्मृति प्रमाद (हानसान 1989), अतिसक्रियता, रजोधर्म के पूर्व का तनाव, खण्डित मनस्कता। इसका सम्बन्ध इस तथ्य से है कि इन अवस्थाओं के इन प्रकारों को सामाजिक रूप में अधिक आसानी से परिभाषित किया जा सकता है तथा गत व्यवहार की वर्तमान व्याख्याओं पर निर्भर किया जा सकता है।

यह हो सकता है कि चिकित्सक को अथवा नैदानिक उपकरणों जिनका शोध-योजना में प्रयोग होता है, को रोग सूचक लक्षण दृष्टिगोचर न हों, ऐसी स्थिति में चिकित्सक अथवा शोधकर्ता को रोग के बारे में मरीज के स्वयं के कथन पर बहुधा विश्वास करना पड़ता है (स्ट्राउस 1988) अथवा बहुधा वे लोग परिवार के लोगों से जानकारी हासिल करते हैं। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कम दूरी में वस्तुओं का विस्थापन अधिक तीक्ष्ण है तब दिग्भेद (पैरललैक्स) और पैरललॉजिक के विचारों के मध्य सम्बन्ध विशेष रूप से इस चर्चा के संदर्भ में समीचीन प्रतीत होते हैं। पाठकों को इसे स्पष्ट करने के लिये एक ऐसे प्रदर्शन का प्रयोग करना चाहिये जिसमें नाक के सामने अंगुली रखी जाय और बांयी-दांयी नाक से 2, 4, 10 और 20 इंच की दूरी पर रख कर दोहराया जाय। निकट के स्तर पर शायद व्यतिक्रम अधिक दिखाई देगा। इस तरह एक निर्णायक जानकारी प्राप्त होगी कि संभावित रोगी पारिवारिक तर्क प्रणाली के अन्तर्गत समाकलित अथवा किसी समानान्तर तर्क प्रणाली से संप्रक्त है। यह जानकारी जैव-चिकित्सा सम्बन्धी स्थिति के परिणाम तक पहुंचने के पूर्व अपेक्षित है। लेइंग और एस्टरसन का खण्डित-मनस्कता वाले परिवारों पर जो काम है, से इस सम्भावना का संकेत प्राप्त होता है (1964)। जिस परिवार से सूचना प्राप्त होती है, में चिन्ता अथवा प्रेरणा के सम्भावित श्रोतों को, उन व्यक्तियों जो चिकित्सीय निदान एवं उपचार के लिये लाये जाते हैं, से सम्बन्धित प्रदत्तों में पूर्वाग्रह के सम्भव श्रोत मानना चाहिये। इससे पता चलता है कि चिकित्सीय नैदानिक प्रक्रिया एक बड़ी सीमा में पारिवारिक प्रक्रिया में सम्पन्न होती है।

निदानकर्ता के रूप में चिकित्सक

जब चिकित्सक निदानकर्ताओं की भूमिका में होते हैं तब पैरललॉजी का उन्हें यह संदेश है कि व्यक्ति के प्रत्यक्ष एवं व्यवहार में विस्थापन की मात्रा को आंकने में विषयनिष्ठ यथार्थ के प्राक्–अनुभविक निर्णयों के प्रयोग से गलत वर्गीकरण हो सकता है। पारिवारिक प्रणाली और मानसिक रोग के बीच सम्बन्ध के प्रति जो साधारण दिशा अपनाई जाती है वह यह देखना है कि परिवार प्रणालियां वास्तविकता से दूर जाने को कैसे प्रोत्साहित करती हैं। खण्डित मनस्क व्यक्ति जिस प्रशिक्षण को अपने पारिवारिक संदर्भ में प्राप्त करते हैं उसे बताने के लिये लिड्ज (1963 : 95) ने पैरालॉजिक पद का प्रयोग किया। खण्डित मनस्क परिवारों में जो छद्म प्रक्रियाएं चलती रहती हैं उन्हें लेइंग ने रहस्यकरण की संज्ञा दी है (1976 : 200)। सेलविनी पाला जोली (1978) ने इशारा किया है कि उपचार का काम मिथकों का निरास करना है। किन्तु अभी हाल में राइस ने वास्तविकता के आन्तरिक तर्क पर बल दिया है और व्याख्यात्मक प्रणाली की वस्तुगत विशेषताओं पर भी जोर दिया है (1981)। ये सभी लेखक मानसिक रोग को किसी बाह्य अथवा वस्तुनिष्ठ वास्तविकता से हटने के रूप में देखते हैं और यह बताते हैं कि यह विस्थापन कैसे होता है। डैल (1986) ने इस पूर्वाग्रह की चर्चा चिकित्सीय साहित्य में की है, उसने इनको यथार्थ की विरोधाभासी प्रवृत्तियां बताया है।

पैरललॉजीय, रचनात्मकतावादियों के इस परम्परागत मत से भिन्नता रखती है कि यथार्थ सामाजिक निर्माण का रूप है। वान ग्लासर फेल्ड (1934 : 24) का मत है, "ज्ञान सत्तामूलक यथार्थ का वस्तुनिष्ठ बिम्ब प्रस्तुत नहीं करता है यह तो केवल हमारे व्यवस्थित और संगठित अनुभवों का आकलन मात्र है, जिसमें समस्त सांसारिक गतिविधियां संयोजित हैं।" मानव मात्र निरंतर ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया में जुटा हुआ है। ज्ञान की प्रक्रिया अनुभवों द्वारा संयोजित की जाती है। अनुभव ज्ञान को उपयुक्त स्वरूप प्रदान करता है, परन्तु यह प्रतिरूप किसी विशेष वस्तुगत यथार्थ से प्रतिबद्ध नहीं है। पैरललॉजीय विचार यथार्थ को निर्मित करने के प्रयास में एक विशिष्ट प्रक्रिया अपनाता है, वह इस ओर ध्यान नहीं देता कि किसी वस्तुगत यथार्थ के साथ अनुरूपता स्थापित कर सकेगा। यह जानने में कि कोई किसी रूप में क्यों व्यवहार कर रहा है, विवेक, यथार्थ और औचित्य की धारणाएं वस्तुपरक अर्थ में विशेष रूप में उपयोगी नहीं प्रतीत होती यदि इस व्यक्ति का परिभाषा संदर्भ चिकित्सक के परिभाषा संदर्भ से पैरललॉजीय सम्बन्ध रखता है। यदि वे भिन्न परिभाषा प्रणालियों के अन्तर्गत काम कर रहे हैं तब उन्हें इसे एक ही रूप में देखने में

कठिनाई होगी। कोई चिकित्सक उद्दीपक–प्रतिक्रिया सम्बन्ध— तार्किक सम्बन्ध को कैसे समझ सकेगा जब सम्बन्धों की रोगी की व्यवस्था चिकित्सक की दृष्टि से एकदम भिन्न हो। ये सम्बन्ध रोगी के अन्तर्वैयक्तिक संदर्भ के विशिष्ट गति सिद्धान्त से निर्धारित होंगे। पोलनर और मैकडोनाल्ड–विक्लर (1985) ने एक ऐसे रोग का उल्लेख किया है जिसमें चिकित्सक उस समय उलझन में पड़ गये थे जबकि उन्हें रोगी में मानसिक रोग के लक्षण प्राप्त होने के बावजूद भी परिवार के लोगों ने इस बात को आग्रहपूर्वक कहा था कि उनकी बेटी बिल्कुल सामान्य व्यवहार करती है, वह मानसिक रोग से पीड़ित नहीं है। जब परिवार प्रणाली के तर्क में, जिसे मैं पैरललॉजी कहूंगा, प्रवेश हुआ तब चिकित्सकों को यह बोध हुआ कि परिवार में यह विश्वास कि बेटी सामान्य है अत्यधिक महत्व का था और उससे परिवार के सदस्यों के व्यवहार के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता था। परिवार के व्यवहार की गत्यात्मकता को समझने के लिये यह अवलोकन निर्णायक था। यह उदाहरण स्वाभाविक प्रक्रिया पर ध्यान देने के महत्व को प्रदर्शित करता है। जिसमें अर्थ सृष्टि होती है और प्रक्रिया की सहमति में तर्क संगति पाने के लिये पूर्व निश्चित धारणाओं और मूल्यों को आरोपित नहीं करना पड़ता। पैरललॉजी से पता चलता है कि संदर्भ विशेष में विशिष्ट यथार्थ निर्माण की प्रक्रियाओं पर ध्यान दिया जाय।

निर्देश : पैरललॉजी, मानसिक रुग्णता और उसके परे

पैरललॉजी के प्रारूप के द्वारा जिन निर्देशों का पता चलता है वे प्रमुख रूप में वर्गीकरण की समस्याओं से सम्बन्धित हैं। मानसिक रुग्णता और निदान के वर्गीकरण की प्रक्रिया पर विचार करते हुए मैंने पैरललॉजी को विकसित किया है। इस खण्ड में मैंने यह चर्चा की है कि मानसिक, रुग्णता के निदान एवं मानसिक प्रक्रिया के प्रतिमानों के लिये पैरललॉजी किस ओर संकेत करती है। इसके पश्चात् मैंने इस बात की भी चर्चा की है कि किस प्रकार पैरललॉजी को विस्तार दिया जा सकता है जिससे उसके अन्तर्गत सामान्य पद्धतिगत प्रश्न के रूप में वर्गीकरण की प्रक्रिया पर विचार हो सके और नीतिगत निर्धारण मिल सके।

मानसिक रुग्णता का निदान

पैरललॉजीय विचार से यह संकेत मिलता है कि व्यवहार को स्वाभाविक संदर्भ के अन्तर्गत ही परिभाषित कर इस व्यवहार को विवेकपूर्ण अथवा विवेकहीन रूप में, सामान्य अथवा रुग्णावस्था के रूप में वर्गीकरण के प्रथम चरण के रूप में स्थापित किया जाय। इससे लक्षित व्यवहार के प्रदत्तों के स्रोत पर सावधानी से विचार किया

जाय, विशेषकर उन स्थितियों में जहां यह सूचना परिवार के सदस्यों से मिलती है तथा चिकित्सक अथवा शोधकर्ता को अपरोक्ष रूप में प्राप्त नहीं होती। इन संकेतों से यह अभिप्राय नहीं निकलता कि जीव चिकित्सकीय प्रणाली को संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। वस्तुतः पैरललॉजीय संदर्भ के अधीन मानवीय अर्थ की संरचनात्मक प्रक्रियाओं के भ्रांतिजनक प्रभावों की ओर इशारा करती है और यह बताती है कि कोई चिकित्सक इन पूर्वाग्रहों को कैसे कम कर सकता है। एक बार पैरललॉजीय दृष्टि अपना ली जाय तब उन अन्तर्निहित अवस्थाओं को अधिकाधिक इस विश्वास के साथ देखना सम्भव होने लगता है जिनसे कि किसी रुग्ण वर्ग को ठीक ठीक पहचान लिया गया है। ये संदर्भ अभिन्न रिश्ते, संस्था सम्बन्धी वातावरण और सामाजिक सम्बन्ध हैं। संदर्भ का प्रत्येक प्रकार किसी पैरललॉजी की ओर इशारा करता है और इस तरह समझ की पूर्णता के लिए अवसर प्रदान करता है।

मुझे शंका है कि पैरललॉजी के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया यह होगी कि वह चिकित्सीय निदान के समार्थ्य को संदेह की दृष्टि से देखती है। यह अति सरलीकरण है। चिकित्सीय निदान इसलिये समस्यामूलक हो जाता है कि मानसिक प्रक्रिया एक ऐसे संदर्भ में अधिष्ठित होती है जिसको लेकर चिकित्सक एवं संभावित रोगी के बीच कोई आपसी समझ नहीं बनती। रुग्णता के चिकित्सीय प्रारूपों के प्रति चिकित्सीय व्यवहार के पूर्वाग्रह चिकित्सकों की रोगियों को व्यक्ति के रूप में न कि किसी उद्गामी समग्रता अथवा संदर्भ के अंग के रूप में देखने के लिये बाध्य करता है। इसलिये मानसिक रोग के संदर्भित मूलों को देखने में चिकित्सकों को कठिनाई होगी। इसका कारण यह है कि उसे उन्हें देखना कभी सिखाया नहीं गया। रोगी के अंतरंग संदर्भ में जो अर्थ निहित होता है वह चिकित्सक को तत्काल उपलब्ध नहीं होता। प्रचलित नैदानिक प्रक्रियाएं इस अर्थ की खोज को उत्साहित नहीं करती।

संस्थाओं में रोगियों का जो मूल्यांकन होता रहता है, उसमें पैरललॉजी का प्रयोग किया जा सकता है। चिकित्सकों को इस बात की जानकारी रहनी चाहिये कि वे रोगी जो भर्ती होते हैं संस्थागत परिस्थितियों में सन्निहित हो सकते हैं जिनके संदर्भ का अनुभव चिकित्सक को न हो सका हो। यह बात विशेष रूप से देखने में आती है कि जब कि हास्यजनक अथवा रूपात्मक उद्देश्य का लोप हो गया हो तथा परस्पर सहभागिता अपर्याप्त हो तो आन्तरिक भावनाओं और प्रत्यक्षों की भ्रान्त व्याख्या हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में जब किसी रोगी से यह पूछा जाय कि आप की तबियत कैसी है ? और वह जवाब दे कि "इस समय मैं केला जैसा अनुभव कर रहा हूँ", सामान्यतः यह उत्तर विवेकहीन ही समझा जायेगा फिर भी अगर इसे रूपक

(वह अवस्था जिसमें किसी के आत्म सम्मान को छत्र की भांति उतार लिया गया हो) अथवा हास्य के रूप में समझा जाय तो ऐसा अनुभव होगा कि रोगी की समझ के अभाव में चिकित्सक इसका सही अर्थ नहीं पकड़ पाया है। यह स्थिति ऐसे समय भी तीक्ष्ण हो सकती है जब कि कोई रोगी चिकित्सकों के दल के सामने खड़ा प्रश्नों का उत्तर दे रहा हो अथवा रोगियों के समूह के साथ खड़ा प्रश्नों के उत्तर दे रहा हो। ऐसे समय में उसके मन में भावनाओं को व्यक्त करने में भय और असुरक्षा के भाव पैदा होते हैं। रूपक अथवा हास्य की शैली रोगी की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सकता है। पैरललॉजिक ऐसी संभावनाओं को प्रेरित करता है और इस ओर संकेत करता है कि चिकित्सक को रोगी के स्वाभाविक संदर्भों की यथेष्ट जानकारी होनी चाहिये, उन्हें इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि ये संदर्भ भिन्न रूप बदलते रहते हैं।

पैरललॉजिक विचार इस चिन्तन को भी विस्तार देता है कि नैदानिक प्रक्रिया में किस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों को प्रवेश प्राप्त होता है। पैरललॉजीय चिन्तन का प्रयोग व्याख्यात्मक संदर्भों के अर्थ विचार और तार्किक विश्लेषण में भी हो सकता है। अर्थ और तर्क के संदर्भ, लिंग, वर्ग, जातीयता, संस्कृति अथवा युग में सहभागिता के द्वारा परिभाषित होते हैं। इस पर विचार करने के लिये पैरललॉजिक का उपयोग हो सकता है। सूक्ष्म तथा सम्भवतः अचेतन, तर्क एवं व्याख्या की प्रणालियों में भेद सामाजिक संदर्भ के घटकों के द्वारा निर्धारित होते हुए निदान को प्रभावित कर सकते हैं। जहां अनवीक्षित स्थिति विचार में किसी व्यतिक्रम अथवा सामाजिक अनुपयुक्तता के पक्ष आते हैं, समझ की सहभागिता में भेद चिकित्सक को व्यवहार को रुग्ण मानने में प्रेरित कर सकते हैं जबकि वह वस्तुतः पैरललॉजी होता है। इस बात पर खोज की जा सकती है कि सहभागी सामाजिक संदर्भ नैदानिक निष्कर्षों पर प्रभाव डालते हैं अथवा नहीं।

मानसिक प्रक्रिया और मानसिक रोग के प्रारूप

एक बार यह जान लेने पर कि मानसिक प्रक्रिया में दीखने वाले विघटन निरीक्षणकर्ता के निरीक्षण बिन्दु से सम्बन्धित होते हैं तब मानसिक रोग की दो सम्भव धारणाएं प्रकट होती हैं। प्रथम—मानसिक रोग को संदर्भ के अन्तर्गत विचार प्रक्रिया के आरम्भिक बिन्दु में परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है।

बुसिनो के सुझाव के अनुरूप तर्क और तर्कणा का विभेद बताकर इस भेद से सादृश्य दिखाया जा सकता है (1986 : 89)। पैरललॉजीय प्रारूप में तर्क परम

अथवा सार्वजनीन गुण नहीं है। इसकी संरचना विशिष्ट संदर्भ पर आश्रित है। तर्कणा को तो विशिष्ट संदर्भित तर्क तक पहुंचने का साधन समझना चाहिये। इसी प्रकार मानसिक रोग को तर्क परिवर्तन अथवा तर्कणा में विघटन के रूप में समझना चाहिये। मानसिक-रोग के रूढ़िगत प्रतिरूप मुख्यतः तर्कणा के विघटन की खोज पर ही केन्द्रित हैं।

पैरललॉजीय विचार, एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु हो सकता है जहां से मानसिक रुग्णता के वैचारिक प्रारूपों का परीक्षण किया जा सकता है और इसे ही चिकित्सा का सहारा बनाया जा सकता है। इससे यह निर्देश मिलता है कि तर्क के परिवर्तनों को समाहित करते हुए एवं संदर्भों पर विचार के लिये रूढ़िगत प्रारूपों को सुधारा जाये। पैरललॉजीय विचार का प्रयोग केवल रोगियों के नैदानिक विभाजन को कैसे करना है अथवा कितनी अच्छी तरह भावी व्यवहार के विषय में सूचना दे सकता है की ही समीक्षा करना नहीं है अपितु स्वयं वर्गीकरण की समीक्षा के लिये उसका प्रयोग हो सकता है। मेरे मत से हमें उस अवस्था में लौटकर सोचना चाहिये जबकि मानसिक रुग्णता को वर्गों में विभाजित न किया गया था और उसे जो आज मानकर चला जाता है, समस्यामूलक रूप में ग्रहण करें। सैद्धान्तिक मनोविकृति विज्ञान उन आधारभूत पूर्वापेक्षाओं का परीक्षण करता है जो मानसिक प्रक्रिया अथवा मानसिक रोग के आधार में होते हैं और इस बात की तुलना की जा सकती है कि ये प्रारूप वर्तमान चिकित्सा प्रणाली में कैसे ठीक बैठते हैं। उदाहरण के लिये इस बात पर विचार किया जाय कि क्या इस सिद्धान्त में कि सम्पूर्ण इकाई अपने ही खण्डों के योग से अधिक है, मानसिक प्रक्रिया के प्रारूप के लिये क्या सन्निहित है। समीक्षा एवं सुधार मानसिक प्रक्रिया एवं मानसिक रोग को प्रारूप देने की दृष्टि से इस रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिसमें संदर्भों को समाहित किया जा सके।

खण्डित मनस्कता की अवस्थाओं में भिन्नता का अनुभव करते हुए वर्तमान खोज ने यह महसूस किया है कि रूढ़िगत नैदानिक वर्गों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। पैरलॉजीय विचार यह निर्देश करता है कि मिलते-जुलते व्यवहारों के मूल भिन्न होते हैं। इनमें तर्क परिवर्तन अथवा तार्किक विघटन की परिस्थितियाँ भी मिल सकती हैं। इसलिये केवल अवलोकन के आधार पर ही व्यवहार की थाह लेकर रुग्णता का वर्ग निर्धारित करना उचित न होगा क्योंकि इसके संदर्भ को बिना पूर्णतः समझे-बूझे सामान्य वर्ग में रखे गये रोगियों में भिन्नता पायी जायेगी। सम्भवतया सही सही नैदानिक वर्गीकरण अथवा आगे के विषय में भविष्यवाणी से सम्बन्धित समस्याएं वर्गों के औचित्य की समस्याओं का निर्देश करती हैं। मैं इस बात का कोई प्रमाण

प्रस्तुत नहीं करता अपितु मेरा सुझाव है कि यहां खोज की सम्भावना है। वह मनोविकृति विज्ञान जो मानसिक रुग्णता के प्रारूपों में अन्तर्निहित आधारों की परीक्षा करता है वह अन्ततः निदान में तथा वर्गों की संरचना के द्वारा भविष्यवाणी में सुधार ला सकता है। खोज की उपलब्धियों पर आधारित आलोचनात्मक विचार से प्रेरित ज्ञान–मीमांसा, अवधारणा और संकेतकों को उन उपलब्धियों से विकास की ओर उन्मुख होने का मार्ग–दर्शन भी प्राप्त हो सकता है। यह निर्देशन उस सैद्धान्तिक ढांचे को विकसित कर सकेगा जिस पर चिकित्सीय प्रणाली निर्मित हुई है।

सम्भवतः तर्क परिवर्तन, पैरललॉजीय विचार की जांच पड़ताल से हमें सामान्यतः मानसिक प्रक्रिया के और खासतौर से मानसिक रुग्णता के प्रतिरूप निर्मित करने में नये दिशा निर्देश प्राप्त हो सकेंगे। ऐसी संभावना हमें पैरललॉजीय विचार के साथ मनस और संदर्भ में संगति स्थापित करने पर प्राप्त हो सकती है। रूढ़िगत प्रारूप व्यक्ति के मनस को संदर्भ से अलग रखने का वैचारिक दबाव डालते हैं किन्तु पैरललॉजीय विचार ऐसे साधन जुटा देता है जिससे कि मनस को संदर्भ के अधीन सोचा जा सके।

विस्तारण

जी.एस.टी. (जनरल सिस्टम थ्योरी) की विधा का एक लाभ यह भी है कि यह एक स्तर के वैचारिक उपकरणों के प्रयोग का अवसर अन्य स्तरों में सुलभ कराता है। जी. एस. टी. प्रारूपों के व्यवस्थापन पर आग्रह करता है और विभिन्न स्तरों पर संगठित इन प्रारूपों की प्रवृत्तियों के अवलोकन को सुव्यवस्थित करने की प्रेरणा देता है। इस आलेख में मानसिक रोग के व्यवहार से सम्बन्धित वर्गीकरण प्रक्रिया पर विस्तृत चर्चा की गई है। पैरललॉजी का प्रयोग पद्धति की सामान्य समस्या के रूप में वर्गीकरण की प्रक्रियाओं एवं अन्य स्तरों पर पैरललॉजीय विश्लेषण के लिये सम्बन्धित सम्भावनाओं पर विचार करने के लिये भी किया जा सकता है।

पैरललॉजीय दृष्टि वर्गीकरण के सम्बन्ध में पूर्व निर्धारित विचारों के प्रयोग पर प्रश्न चिह्न लगाती है। पैरललॉजीय विचार का आशय यह है कि पूर्व निर्धारित अभिव्यक्ति 'मेरा अपना संदर्भ' के रूप में बदली जा सकती है। इससे यह संकेत मिलता है कि एक संदर्भ से व्युत्पन्न वर्गों को अन्य संदर्भों में बिना भेद के प्रयोग किया जाता है तब वर्ग का औचित्य खतरे में पड़ जाता है। विभिन्न संदर्भों से व्युत्पन्न आंकड़ों के यादृच्छिक आकलन द्वारा वर्गीकरण एक ऐसी प्रणाली है जिसमें भ्रान्तियों का जोखिम रहता है। अतः आंकड़ों को संदर्भों में वर्गीकृत

करने के पहले ही उनके निश्चित अर्थ का संदर्भ के अन्तर्गत संस्थापन प्रयोजनीय होगा।

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए पैरललॉजीय विचार के निहितार्थ को सामाजिक नीति के दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है। विभिन्न सामाजिक संदर्भों के स्तर पर विवेकशीलता से सम्बन्धित बोध और प्रत्यक्ष ज्ञान में भी अन्तर हो जाना संभव है। पैरलॉजीय यह संकेत करती है कि भिन्न संदर्भों से जुड़े तर्क आपस में भिन्नता रखते हैं और उनसे प्रेरित कार्य का परिणाम भी भिन्न होता है। इसलिये एक संदर्भ से जुड़े तर्क को अन्य संदर्भ में प्रयोग करना न तो संभव है और न यह उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार एक संदर्भ से व्युत्पन्न समस्याओं के हल से दूसरे पर कोई अप्रत्याशित प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं हो सकती। इसलिये इस संबंध में सुझाव यह है कि वर्ग, संस्कृति अथवा राष्ट्र में विकसित नीति के निर्धारण के प्रति सजग रहना उचित है, क्योंकि नीति निर्धारण व्यवस्था में बंधा यह वर्ग वांछित उपलब्धि ही प्रदान कर सकता। इसलिये ऐसी नीति विकसित की जाय जिसका माध्यम सहज ज्ञान हो और बदलाव के समय संदर्भ में पैरललॉजीय परिवर्तन पूर्वगामी प्रतीत हो सके।

संदर्भ, दो अथवा अधिक अन्तर संबंधी भागों का आकस्मिक गुण–तत्त्व है। तर्क की प्रणालियां विशिष्ट रूप से संदर्भ से जुड़ती हैं इसलिये समानान्तर हैं। पैरललॉजीय विचार मानसिक लचीलेपन को विकसित करने का साधन है, जिसके द्वारा संदर्भों के परस्पर सामंजस्य के समय उनके विशिष्ट स्वभाव की सराहना की जा सकती है। इस आलेख में यह संदेश निहित है कि समस्त स्तरों पर निदान, विश्लेषण और नीति तभी अधिक प्रभावशाली हो सकती है, जब कि संदर्भ के विलक्षण स्वभाव के अपरिहार्य गुणों का समादर किया जाय।

पाद टिप्पणियाँ और पुस्तक संदर्भ

* मैं, नोरमन डब्ल्यू वैल, मैलविन जे लेरनर, एमी टाइसन एवं जॉन एस स्ट्रॉस का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने मुझे चर्चा का अवसर दिया है और मेरे विचारों को विकसित करने में सहायता की है। जहां तक मेरी जानकारी है "पैरललॉजिक" पद के रूप में प्रथम बार प्रयोग में आया है। "पैरालॉजिक शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है। समानान्तर विचार व्यवस्थाओं के रूप में समानान्तर तर्क के अर्थ को पकड़ने के लिये मैने दो "एल्" का प्रयोग किया है।

** क्योंकि लेखक का यह एक पारिभाषिक शब्द है और लेखक ने अपनी टिप्पणी में अपने अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। अतः अनुवाद में उसे तत्सम रूप में ही ग्रहण कर लिया गया है।

एग्न्यू, एन. एम. एवं ब्राउन, जे. एल., बाउण्डेड रैश्नलिटी : "फैलीबिल डिसीसन्स इन अन्बाउण्डेड डिसीसन स्पेस", ***विहेव्रल साइंसेज*** 1986, 31, 148–161.

बुसीनो, जी., सोसियोलोजि इन क्राइसिस, ***डायोजिनीज़*** सं. 135, 1986, 79–92.

कैरेल, एल., ***ऐलिसेज एडवैंच्यरस् इन वण्डरलैण्ड,*** न्यूयार्क, बैन्टमबुक्स, 1981 (बैन्टम क्लासिक्स एडीशन)।

कॉलसन जे. एवं अन्य, ***ऑक्सफोर्ड इलेस्ट्रेडेड डिक्शनरी,*** ऑक्सफोर्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1975.

डैल, पी. एफ., "ह्वाई डू वी स्टिल कॉल दैम पैराडोक्सेज़" ***फैमिली प्रोसेस,*** 1986, 25 (2), 223–234.

एमरसन, आर. एम. एण्ड मैसेंजर, एस. एल., "दि माइक्रो–पोलिटिक्स ऑफ ट्रैवल्स" ***सोश्यल प्रॉब्लम्स,*** 1977, 25 (2), 121–134.

फिशर, आर., "डिकन्स्ट्रक्टिंग रियलिटी" ***डायोजिनीज़,*** स्प्रिंग1985, सं. 129, 47–62.

फिशर, आर., "एमरजैन्स ऑफ माइण्ड फ्रॉम ब्रेन : दि बायोलोजिकल रूट्स ऑव दि हरमैनोयटिक सर्किल", ***डायोजिनीज़,*** ग्रीष्म 1987, सं. 138, 1–25.

फ्रिश्कनैरव्ट, एफ., "डायलॉग ऑन इनफॉरमैटिक फिलॉसफी ऑव बिहेव्रल साइंसेज : पोजेटिविस्ट बाइस मिसेस दि सिम्बल–सिस्टम पॉइन्ट" ***बिहेव्रल साइंसे*** 32, 1987, 234–237.

हामबुरगर, जे., "दि आर्ट ऑव रीजनिंग इन बायोलॉजि एण्ड मैडीसन, ***डायोजिनीज़,*** ग्रीष्म 1987, सं. 138, 26–40.

हानसन, बी. जी., डैफिनेशनल डैफीसिट : "ए मॉडल ऑव सैनाइल डैमैन्सिया इन कॉनटैक्स्ट", प्रकाश्य, ***फैमिली प्रोसेस,*** 28, 1989.

लेइंग, आर. डी., "मिस्टीफिकेशन, कन्फ्यूजन एण्ड कॉन्फिलिक्ट", देखें बोस ज़ोरमेंयी—नेगी एवं जे. एल. फ्रामो (सम्पादित) *इनटैन्सिव फैमिली थिरेपी,* अमेरिकन मैडिकल एसोसियेशन 1965, पुनः मुद्रित स्लुजिकी, सी. ई. एवं डी. सी. रेन्सम (सम्पादित) ***"डबल बाइन्ड : दि फाउण्डेशन ऑव दि कम्यूनिकेशनल एप्रोच टू दि फैमिली,*** न्यूयार्क, ग्रूने एवं स्ट्राट्टोन 1976, 199–218.

लेइंग, आर. डी. एवं एस्टरसन, ए. सैनिटी, ***मैडनैस एण्ड दि फैमिली,*** मार्खाम, पेन्गुइन बुक्स कनाडा लिमिटेड, 1980 (प्रथम संस्करण 1964).

लास्ज़लो, ई. ***"इन्ट्रोडक्शन टु सिस्टमस् फिलॉसफी,*** न्यूयार्क, इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटीज़ प्रेस 1963.

लिड्ज, टी., ***दि फैमिली एण्ड ह्यूमन एडेप्टेशन,*** न्यूयार्क, इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटीज़ प्रेस, 1963.

मीड, जी. एच., मोरिस, सी. (सम्पदित) ***"माइण्ड सैल्फ एण्ड सोसाइटी",*** शिकागो, यूनिवर्सिटी ऑव शिकागो प्रेस, 1962 (प्रथम संस्करण का प्रकाशन 1936 में).

पोलनर, एम. एवं मैकडोनाल्ड विक्लर, एल., "दि सोश्यल कन्स्ट्रक्शन ऑव अनरियलिटी : ए केस स्टडी ऑफ ए फैमिलीज़ एट्रीब्यूशन ऑव कॉम्पीटैन्स टु ए सीविअरली रिटार्डेड चाइल्ड" ***फैमिली प्रोसेस,*** 24, 1985, 241–254.

रीस, डी., ***"दि फैमिलीज़ कन्स्ट्रक्शन ऑव रिआलिटी"*** कैम्ब्रिज, मा. हार्वार्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981.

साटिर, व्ही., "ए फैमिली ऑव ऐंजिल्स : "एन इन्टरव्यूह विथ विरजीनिआ साटिर", देखें जे. हेले एण्ड एल. हॉफमान, ***टैक्नीक्स ऑव फैमिली थिरेपी,*** न्यूयॉर्क, बेसिक बुक्स, 1967.

सेलविनी पाला जो ली, एम. ***"पैराडॉक्स एण्ड काउन्टर पैराडॉक्स",*** न्यूयार्क, जेसॉन एरोन्सन, 1978.

स्ट्राउस, जे. एस., "मीडिऐटिंग प्रोसेसेज इन स्कीजोफ्रेनिआ : टुवार्डस् ए न्यू डाइनैमिक सकाइट्री", ***ब्रिटिश जरनल ऑफ सकाइट्री*** 1989, 155, (विशिष्ट अंक 5) 22–25.

फॉन फोइरस्टर, एच., "ऑन कन्स्ट्रक्टिंग ए रिअलिटी", देखें, पी. वाजलाविक (सम्पादित).

दि इन्वैन्टेड रिआलिटी, न्यूयार्क, डब्ल्यू. डब्ल्यू, नार्टन एण्ड कम्पनी 1984, 41–62.

फॉन ग्लसर्फील्ड, ई., "एन इन्ट्रोडक्शन डु रैडीकल कंसट्रक्टिविज्म", देखें वाजलविक (सम्पादित) ***दि इन्वैन्टेड रिआलिटी,*** न्यूयार्क, डब्ल्यू. डब्लयू. नार्टन एण्ड कम्पनी, 1984, 17–40.

वाजलविक, पी., वीएविन, जे. एच., जेक्सन, डी. डी. ***प्रैगमैटिक्स ऑव ह्यूमन कम्यूनीकेशन्स,*** न्यूयॉर्क, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नार्टन एण्ड कम्पनी, 1969.

4

टोकरी, केश, देवी और जगत दक्षिण भारतीय प्रतीकवाद पर एक निबन्ध *

जैकी ऐसायग

"अगर पिस्सू किसी अनुष्ठान को स्थापित करते हैं तो इसका श्वान के संदर्भ में महत्व होगा"

एल. विटगेन्श्टाइन
फ्रेजर के द्वारा लिखित 'द गोल्डन बाऊ' पर टिप्पणियाँ

"उष्णकटिबंधीय ताप और ऊर्ध्वमुखी प्रकाश की दो सम्बद्ध दशाओं के अन्तर्गत मैंने सभी जीवधारियों, पक्षियों, पशुओं, सरीसृपों, वृक्षों तथा पौधों, रीति-रिवाजों और भव्य समारोहों को एकत्र किया जो सभी उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में सामान्यतः पाये जाते हैं और मैने उन्हें अस्तव्यस्त रूप में चीन और हिन्दुस्तान में फैक दिया।

शार्ल बोदलेयर
ल पारादी आर्तीफिस्येल

पिछले कुछ वर्षों से नृतत्वशास्त्रीय शोध से संबंधित आनुष्ठानिक व्यवहार के नृजाति सम्बन्धी पक्षों के अध्ययन में आनुष्ठानिक प्रतीकवाद के अर्थ के प्रति रुचि पुनर्जीवित हुई है। यह शोध एक पद्धतिगत विलोमन के द्वारा सम्भव हुआ है, अर्थात्

---

* Jackie Assayag : The Basket, Hair, The Goddess and the World : An Essay on South Indian Symbolism. ***Diogenes;*** No. 142, 1988, pp. 113-135.
अनुवाद : वीरेन्द्र सिंह

अध्ययन को धार्मिक विश्वासों के विश्लेषण की अपेक्षा वर्णनात्मक विधि से रीतियों का अध्ययन आरम्भ करने से। यह आरम्भ मूलतः पारम्परिक धार्मिक इतिहास की दिशा से विपरीत है।

यदि हम इन रीतियों के अध्ययन को मुख्य महत्व देते हैं तो पहला प्रश्न उठता है कि उनका क्या अर्थ है, और यह तभी सम्भव है जब उनमें निहित आनुष्ठानिक प्रतीकवाद को उचित प्रकार से समझा जाये। लेकिन आनुष्ठानिक प्रतीकवाद के स्वरूप–अध्ययन का सुनिश्चित क्या अर्थ है, इसे जानना जरूरी है। अनुष्ठानपरक प्रतीक क्या अर्थ देते हैं, यह जानना स्पष्टतः एक सतही समस्या है जो काफी जटिल दिखाई देती है। यदि हम यह मान भी लें कि अनुष्ठान कुछ अभिव्यक्त करते हैं तो हम यह कैसे अन्वेषित करें कि वे क्या हैं ?

सबसे पहले हम यह उत्तर देना चाहेंगे कि आनुष्ठानिक प्रतीकवाद का अर्थ वह है जो उसके कर्ता या करने वाले मानते या सोचते हैं और नृजातिविज्ञानी का स्वाभाविक आकर्षण यह होता है कि वह जनजातियों द्वारा दी गयी सूचनाओं को वेदवाक्य की तरह ग्रहण करता है। हम इस तथ्य को ध्यान में रखें कि विशेषतया जहां साक्षर संस्कृति जैसे भारत का प्रश्न है, जहां रीतियों का वर्गीकरण और प्रतीकात्मक विवेकीकरण का विकास हो चुका है वहां यह जानकारी बहुधा अपर्याप्त और कभी कभी रहस्यात्मक प्रतीत होती है। अपर्याप्त इसलिये कि इससे नृजातिविज्ञानी द्वारा किया गया समाज का अध्ययन अन्य प्रकार के सांस्कृतिक संगठनों से अलग हो जाता है और यह अलगाव इस पूर्वधारणा में निहित है कि रीतियों के भागीदारों की स्थिति परम स्पष्टता की है जिसका लीच ने उचित व सही रूप से प्रत्याख्यान किया— "वह समाजवैज्ञानिक जो यह समझने का प्रयत्न करता है कि कोई विशेष आनुष्ठानिक क्रम क्यों, कोई रूप और विषय वस्तु रखता है जिसका वह निरीक्षण करता है, उसे श्रद्धालुओं की योक्तिक व्याख्या से विशेष सहायता नहीं मिलेगी" (1968 : 523)। रहस्यात्मक इसलिये कि प्रतीकात्मक शक्ति के वास्तविक नियंत्रक उनके अर्थ को लगातार चालाकी से अपने हित में इस्तेमाल करते हैं और वह भी कभी कभी चक्कर में डाल देने वाली व्याख्याओं से। इधर हाल में जब नृतत्वशास्त्री विक्षुब्ध हो गये और लोकप्रिय 'हिन्दुत्व' के प्रति अधिक आकर्षित हुए विशेषकर भारतीय समाज अध्ययन के क्षेत्र में, तो वे ब्राह्मणों द्वारा दिये गये दृष्टिकोण को ही अधिकांशतः स्वीकार करते रहे।

लैवी स्ट्राउस (I, 58 : 367) जो इस कठिनाई से सजग था, उसने तात्कालिक पद्धति के रूप में व्यवहार को मानकों से अलग करने का प्रयास किया;

आनुभविक व्यवस्थाओं तथा विचारित व्यवस्थाओं में भेद कर के उस बात पर बल दिया है जो व्यक्तियों के व्यवहार को उन मानकों से जिन्हें वह अपने व्यवहार के औचित्य के लिये प्रस्तुत करते हैं उनके सम्बन्ध में उनकी जो कल्पना है उससे स्वतंत्र रूप में अपरिहार्य रूप में अलग करता है। इस प्रकार लैवी स्ट्राउस ने उस ज्ञानमीमांसीय प्रश्न को फिर उठाया जो नृतत्वशास्त्रीय कार्यों को सताता रहा, अर्थात् मूल निवासी जो कहता है उसकी स्थिति क्या है ?

इसका एक उत्तर जो आज दिया जाता है, वह यह कि इस सूचना को सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक मुहावरे की सापेक्षता में निर्दिष्ट किया जाये जो उसे जन्म देते हैं, अक्सर उन जटिल रूपांतरणों का विश्लेषण किया जाये जो नृजातिविज्ञानी के उसके सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के विमर्शों से जुड़े हुए हैं। अन्य शब्दों में, हम कैसे यथावत कही जाने वाली विचारित व्यवस्था से उस अनुभूत व्यवस्था की ओर जायें जिसमें वह रहता है ? और उन विकृतियों की दशाएं क्या हैं जिन्हें हम प्रथमोक्त और उत्तरोक्त के मध्य देखे बिना नहीं रह सकते। फिर भी मूल निवासी की विचारित व्यवस्था को अधिक बाद में आये अमूलनिवासी की व्यवस्था के साथ-साथ रखना ही पर्याप्त नहीं है— यह द्विअर्थकता लैवी स्ट्राउस में बनी रहती है—अपितु इस प्रकार नृजातिविज्ञानी के दृष्टिकोण से विचारित व्यवस्था जिसे वह मूलतः अपने प्रतीकात्मक क्रियाओं या कर्मकांडीय संग्रथन से प्राप्त करता है और दूसरी ओर नृतत्वशास्त्री उन्हीं व्यवस्थाओं को पुनर्निर्मित करता है— इन दोनों के बीच अन्तराल को मापना आवश्यक है।

हमने अभी तक इस संक्षिप्त विवेचन को इसलिए प्रस्तुत किया जिससे कि प्रतीकवाद की अर्थव्याख्या में तात्त्विक चिन्ता जो समस्त नृतत्वशास्त्र की जटिल ग्रंथि के विरोध में सामने आ सके यह ग्रंथि प्रेक्षक की वह स्थिति उसके अध्ययन वस्तु की सापेक्षता में सामने आती है जिसमें संदेहास्पद युक्तियों की श्रृंखला उसके रूपायन, ज्ञान और रीतियों और अंततः उसकी उपस्थिति से उत्पन्न होती है। जैसा कि हमने पुष्ट किया है, यदि अनुष्ठान में भागीदारों के 'विश्वासों' को स्वीकार किया जा सकता है तो केवल अत्यन्त सीमित रूप में। क्या यह ऐसा इसलिये नहीं है कि उन्होंने कभी भी इस कार्य में भाग नहीं लिया। क्या हमें नृतत्वशास्त्रियों की अनुभूतियों की ही ओर निर्देश करना चाहिये और किस बिन्दु तक ? संक्षेप में आनुष्ठानिक प्रतीकवाद के अर्थ की खोज में उपयुक्त पद्धतिगत कार्यप्रणाली का निर्णायक प्रश्न उत्पन्न होता है। यह एक ओर 'नृजातिविज्ञानीगत'. भ्रमात्मक विवेक जो नृतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से सदैव ठीक होता है और दूसरी ओर प्रेक्षक के आंशिक भ्रम जिसके प्रश्न और समस्याओं से कुछ न कुछ प्रकाश पड़ता है।

रेडक्लिफ–ब्राउन द्वारा प्रतिपादित नियम सामान्य पद्धतिगत सिद्धान्त के रूप में न्यायसंगत हो सकता है। किसी प्रतीक का क्या अर्थ है, इसे अनुष्ठान और लौकिक संदर्भों में उसके विभिन्न प्रयोगों के अत्यन्त सावधानीपूर्ण निरीक्षणों के द्वारा सत्यापित किया जा सकता है (1968 : 218)। कुछ भी हो, यह कुछ भी प्रमाणित नहीं करता कि प्रतीक के प्रयोग और अर्थ में निरंतरता और समरूपता प्राप्त होती है जब हम एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ की ओर जाते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि बहुधा देखा गया है भारत में आध्यात्मिक और सांसारिक सीमा अत्यन्त समस्यामूलक है।

यद्यपि उदाहरण के रूप में उसके काम से अधिक पता नहीं चलता है क्योंकि रीति की अपेक्षा मिथक को वरीयता देने के कारण, लैवी स्ट्राउस आनुष्ठानिक क्रियाविधि को स्वयं विचार प्रक्रिया से अभिन्न बताने की ओर प्रवृत्त था। अनुष्ठान का नाटकीय पक्ष दृश्य अनुभव की निरंतरता को प्रतीकात्मक श्रेणियों के क्रम में विच्छेद कर देता है और यह प्रक्रिया सामान्यतः उन लोगों के प्रयोग में आती है जो अपने अवधारणात्मक उपकरणों को अमूर्त और आदिभौतिक संदर्भों से जोड़कर अपने बौद्धिक क्रियाकलापों के निमित्त उनका उपयोग करते हैं। इस अर्थ में और व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनुष्ठान एक प्रकार के प्रतीकात्मक संप्रेषण के समान है जो निश्चित रूप से मौखिक भाषा और उसके प्रकार्य से संबंधित है (1962 : अध्याय 1)।

इसी धारा में लीच अनुष्ठान को संप्रेषणीय योजना के मुद्रीय रूपान्तरण के रूप में शब्द के समान विवेचित करता है। इसके अतिरिक्त वह इसे व्यावहारिक संक्रिया से जोड़ता है जिसे संप्रेषित संदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। "मानवीय क्रियाएं कर्म करने के हित में प्रयुक्त हो सकती हैं लेकिन मानवीय क्रियाएं कुछ कहने के लिए भी प्रयुक्त हो सकती हैं" (1968 : 52)। प्रत्येक कर्मकाण्डीय क्रम चाहे वह पहनावा हो या मुद्रा, वह किसी न किसी सूचना को संप्रेषित करता है जिसकी प्रेक्षक को व्याख्या करनी चाहिये : "समस्त वाणी प्रथा से सम्बन्धित व्यवहार का एक रूप है, उसी तरह समस्त प्रथा से सम्बन्धित व्यवहार वाणी का एक मुहावरा है।" आनुष्ठानिक प्रतीकवाद अपने को दृश्य रूप से अभिव्यक्त करता है और सांस्कृतिक अर्थ के विन्यास को जो उसे समझना चाहता है, उसके लिए संप्रेषित करता है।

दक्षिण भारत में किसी देवी के उपासकों के लिये कोई आनुष्ठानिक टोकरी बनाने में जो विशिष्ट प्रतीक प्रयुक्त होते हैं उनमें सन्निहित अर्थों के तंत्र का विश्लेषण कैसा हो इस सम्बन्ध में हम इस समस्यामूलक संरचना का सुझाव देना चाहेंगे। इस अर्थ में इसका महत्व सांकेतिक है क्योंकि प्रतीकात्मक विधि में यह एक अभिव्यक्ति परक समष्टि को प्रदर्शित करती है और जो एक साथ रहस्यात्मक और आडम्बरपूर्ण

भी ज्ञात होती है। एक प्रतीकात्मक समष्टि वस्तुतः विश्वासों और अभिव्यक्तियों के एक तंत्र को अभिव्यक्त करती है। जैसा कि गेर्टस कहेगा (1986 अध्याय IV) कि यह एक स्थानीय सामान्य अनुभव है जिसमें न्यूनाधिक रूप से उपासकों के बड़े समुदाय प्रत्येक दिन अथवा आनुष्ठानिक रीतियों के अवसर पर संप्रदायगत जमावों के अवसर पर भाग लेते हैं और ऐसे अवसरों पर उपासक उनसे तादात्मय का अनुभव करते हैं। जगत की अवधारणा की अभिव्यक्ति प्रक्रिया में प्रतीकों का यह संघात कर्मकाण्ड के भागीदारों को यह अधिकार देता है कि वे अपने मध्य मात्र जीवन के सामान्य ज्ञान का प्रदर्शन ही न करें अपितु उसके समक्ष उचित व्यवहार करें जिससे प्रतीकात्मक पुंज एक पूर्वकल्पित ब्रह्माण्डीय व्यवस्था को सत्यापित कर सके तथा मानवीय अनुभव के स्तर पर अपने बिम्बों को दिशा देते हुए प्रक्षिप्त करें। गेर्टस के प्रसिद्ध सूत्र के अनुसार यह एक साथ यथार्थ का एक प्रारूप है—जिसे व्यक्ति उसके मूल रूप में ग्रहण करते हैं—और साथ ही यथार्थ के लिए एक प्रारूप है। इस प्रारूप पर वे "विश्वास" करते हैं (1972 : 26) अर्थात् एक ऐसा पारम्परिक बिम्ब विधान जो व्यक्तियों को एक विशेष विश्व के द्योतन में समायोजित करता है। यह संगठन उनकी अभिवृत्तियों को एक अर्थ प्रदान करता है जो एक साथ ही अनुभवात्मक और अनुभवातीत होते हैं। यह यथार्थ के सृजन का एक प्रचलित मार्ग है और विश्व दृष्टि के रूप में इससे एक व्यावहारिक अर्थ को प्राप्त करते हैं।

यदि इस 'टोकरी' की शैल्पिक रचना एक सामाजिक निर्माण है तो इसका अर्थ यह है कि यह सांस्कृतिक विचार के रूप का एक परिणाम है क्योंकि यदि आप चाहें तो सोचने का अर्थ है सामाजिक रूप से निर्माण करना अथवा उसका विलोम। जब क्रिया का व्यवहारवाद एक शिल्प-कृति के रूप में फलित होता है अर्थात् प्रतीकों के संघात के लिए अभिव्यक्त रूप में होता है तब वह सांस्कृतिक उद्भावना के प्रक्षेपण के समकक्ष होता है। इस प्रकार जगत एक 'टोकरी' में अभिव्यक्त होता है जो स्वयं जगत को एक प्रकार के अर्थमीमांसीय चक्र के रूप में अभिव्यक्त करती है। यह चक्र किसी भी रूप में दुष्चक्र न होकर अर्थ की एक शर्त है, इस सांस्कृतिक रूप में निर्धारित जगत का अर्थ। अतः एक व्यक्ति जिस रूप में इस 'टोकरी' की परिकल्पना करता है, वह उसी रूप में संसार में निवास करता है और इस प्रकार वह गृहीत परिदृश्य के अनुसार उसे काव्यात्मक, सौंदर्यात्मक, सैद्धान्तिक या व्यावहारिक विधि से व्यक्त करता है। आनुष्ठानिक क्रिया में उपकरणों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की आवश्यकता एक साथ ही अभिव्यक्ति और संप्रेषण के मार्ग को प्रशस्त करती है। यदि प्रतीक किसी जगत की अभिव्यक्ति है तो जगत इन अभिव्यक्तिपरक प्रतीकों की अभिव्यक्ति है। स्पिनोजी रूप में, एक प्रकार के समानान्तरवाद में प्रतीक और जगत

अन्योन्य रूप में अपने को अभिव्यक्त करते हैं और संप्रेषण से सहसम्बन्ध रखते हैं क्योंकि वे सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से निर्मित होते हैं और भाषा के प्रचलित रूप में अनुभूत होते हैं।

देवी येल्लम्मा

कर्नाटक राज्य के बेलगांव जिले में सौन्दत्ती कस्बे से आठ किलोमीटर दूर देवी येल्लम्मा का मन्दिर उसी के नाम से ज्ञात एक पर्वत शिखर पर लगभग 600 मीटर व्यास वाली एक गोलाकार प्राकृतिक रूप से उत्खनित चट्टान पर अवस्थित है।

यह इस क्षेत्र में एक बहुत ही प्रसिद्ध तीर्थस्थान है क्योंकि हर वर्ष यहां लगभग एक करोड़ श्रद्धालु आते हैं जिनमें अधिकतर 'अछूत' जाति की स्त्रियां होती हैं। यह स्थान इसलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ उन देवदासियों को दीक्षित करने हेतु आरंभिक समारोहों का आयोजन होता था जिन्हें स्थानीय भाषा में 'जोगती' कहते हैं। यह आयोजन लिंगायत–बनजीगा जाति के पुजारी के द्वारा सम्पन्न किया जाता था। ये जोगती या देवदासियां देवी येल्लम्मा के नाम पर अपने सरों पर सज्जित 'टोकरियों' के द्वारा पहचानी जाती हैं जिसके प्रति उनकी जीवन समर्पित रहता है।

श्रद्धालुगण अक्सर मंगलवार, शुक्रवार और पूर्णिमा के दिन दर्शनार्थ मंदिर में आते हैं। इसके अतिरिक्त श्रद्धालुओं के समूह दिसम्बर और मार्च के दो महान चंद्र–पर्वों के समय यहाँ एकत्र होते हैं। पहले पर्व में जिसे 'होस्टिला हुन्निमे' (विधवा का पर्व) कहते हैं, देवी अपने पवित्र पति जमदग्नि को खो देती हैं और 'जोगती' अपने को देवी से तादात्मीकृत कर विधवा वेश धारण करती है। दूसरे (दवनन्द हुन्निमे) में देवतागण पुनर्विवाह करने के हेतु उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनके वैधव्य से 'जोगती' उत्पन्न होती है और देवता से विवाह कर उसकी सह पत्नी बन जाती है। ये दोनों पर्व देवी 'येल्लम्मा रेनुका' से सम्बन्धित प्रचुर मात्रा में फैले हुए मिथकीय वृत्तों से प्राप्त दो प्रसंगों का स्मरणोत्सव है। इन मिथकों में से दो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(1) येल्लम्मा का विवाह एक तपस्वी सन्यासी जमदग्नि से इस शर्त पर हुआ था कि वह प्रतिदिन उसके स्नान के लिए आवश्यक मात्रा में जल लायेगी। उसके सतीत्व की शुद्धता कुछ इस प्रकार की थी कि वह नदी तल से रेत का पात्र बना, सर्प की इंडुली बनाकर उसे सिर पर रखकर जल लाती थी।

बहुत समय के बाद जब उसके बच्चे बड़े होकर स्वयं तपस्वी बन गए तब एक दिन राजा कार्तवीर्य ने अपनी पत्नियों के साथ नदी में स्नान करते समय उसे अचानक देखा। तीव्र कामेच्छा के वशीभूत हो, वह समय से जलपात्र को नहीं बना पाने के कारण आश्रम बहुत देर से पहुंची।

जमदग्नि को अपनी अपवित्र हुई पत्नी पर क्रोध आया और उसने अपने तीनों पुत्रों को बारी बारी से उसे मृत्यु के घाट उतारने का आदेश दिया। एक बाद एक ने पिता के इस आदेश का पालन नहीं किया। इस पर जमदग्नि को अत्यन्त क्रोध आया और उसने उन्हें नपुंसकों में परिवर्तित होने का श्राप दे दिया। इसके बाद उसने अपने छोटे पुत्र परशुराम (फर्से सहित राम) से कहा, जो परम पितृभक्त था, उसने अपने पिता के आदेश का पालन करते हुए अपनी माता का सिरच्छेद कर दिया। इससे संतुष्ट होकर उसके पिता ने उसकी सारी इच्छाओं की पूर्ति का वचन दिया। इस प्रकार परशुराम ने पिता के वचनों के द्वारा अपनी माता को पुनः जीवित किया।

(2) यह जानकर कि जमदग्नि के पास कामधेनु है जो समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है, कार्तवीर्य ने अपने सैनिकों के बल पर आश्रम पर आक्रमण करके उसे हस्तगत करने का प्रयत्न किया। लेकिन कामधेनु स्वर्ग को आरोहण कर गयी, तदनंतर क्रोधित राजा ने तपस्वी के शरीर पर इक्कीस घाव करके उसकी हत्या कर दी।

परशुराम ने जो उस समय हिमालय में समाधिस्थ थे, अपने पिता से यह प्रतिज्ञा की कि वह क्षत्रिय जाति को पूरे विश्व की परिक्रमा कर इक्कीस बार पृथ्वी को उनसे विहीन करेगा।

टोकरी (जग)

कुछ क्षण रुक कर अब जरा इन भक्तों के बारे में विचार किया जाये जिन्हें 'जोगती' कहते हैं जिनके अतिरिक्त स्त्रियों के अलावा जमदग्नि की सह-पत्नियां भी हैं जिन्हें 'जोगम्मा', विपरीत यौनवस्त्रधारी येल्लम्मा के सहपति जिन्हें 'योगप्पा' कहते हैं। जोगम्मा और इससे अपेक्षाकृत कुछ कम 'जोगप्पा' का सर्वाधिक प्रकट चिह्न यह 'टोकरी' है जिसे 'जग' भी कहते हैं। वे इस जग को देवी के प्रति भक्ति चिह्न के रूप में, अपने सिरों पर रखकर ले जाती हैं। इसी के कारण उन्हें स्थानीय भाषा में 'होरूबुड्' कहा जाता है जिसका अर्थ है 'जो अपने सिरों पर वस्तुएं ले जाती हैं'।

आज इस क्षेत्र में बांसों के मिलने में पर्याप्त दिक्कत होने के कारण इन 'जगों' को अक्सर ताम्र जटित धातु जिसे 'कोड़' कहते है, के स्थान पर प्रयुक्त किया

जाता है। यह टोकरी या कोड़, यद्यपि आवश्यक धार्मिक अथवा प्रतीकात्मक आभूषणों को रखती है जो भक्तों द्वारा उन्हें अलंकृत करने की प्रतिस्पर्धा में एक महान सृजनात्मक विविधता को प्रदर्शित करती है। देवी के मन्दिर के चारों ओर स्थापित दुकानों से इन नानाविध वस्तुओं को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, वह भी अपने क्रय करने की सामर्थ्य के अनुसार।

जहां तक 'कोड़' का संदर्भ है इन प्रतीक चिह्नों के एकत्र होने का मुख्य लक्ष्य, इनकी संख्या, संयोजन और सौंदर्यात्मक प्रकृति के अतिरिक्त देवी की एक ऐसी प्रतिमा निर्मित करने में है जो न्यूनाधिक आकृति विशेष अथवा एक दिव्य गुड़िया का रूप रखती हो। मंदिर के पंचांग में महान चंद्र समारोह इन परिधानों की बहुलता को अवसर प्रदान करते हैं।

यदि 'कोड़' को पवित्र जल से भरा जाता है जिसमें कुछ सिक्कों को और इसी के साथ कुछ श्वेत कांटेवाली पत्तियों को डाला जाता है, इस स्थिति में अक्सर जग पके हुए चावलों और विभिन्न प्रकार के तैयार किए हुए खाद्य पदार्थों से युक्त होते हैं।

देवी की इस मूर्ति की साजोसज्जा हेतु उसके मुख को ताम्र या रजत मंडित धातु से मंडित किया जाता है जो कोड़ के ऊपर एक किरीट की तरह सुशोभित होता है। लेकिन सामान्यतः मूर्ति को मोर-पंख से इस प्रकार निबंधित किया जाता है कि वह प्रभामंडल के समान प्रतीत हो। देवी के मुख पर केशों के गुच्छ के मध्य में सिंदूर रेखा और मस्तक पर उसी सिंदूरी रंग की बिंदी इस बात का द्योतक है कि भारत में पारम्परिक रूप से यह विवाहित स्त्री का चिह्न है जबकि इसी के साथ मस्तक कुमकुम से मण्डित रहता है। कुछ भक्तगण मोरपंखों को या तो कडेगा वृक्ष के रजत मंडित श्वेत कांटेदार टहनी से या पत्तियों से अलंकृत करते हैं। कुछ मूर्ति के ऊपर एक छोटी छतरी को या वितान के रूप में कोबरा के सिर को लगाते हैं। ये सभी वस्तुएं रजत मंडित धातु की होती हैं।

उपासना की दशा में दो उल्टे रजत मंडित हाथ जिनकी प्रत्येक हथेली में 'बंधर' का एक लाल चिह्न अंकित किया जाता है और उन्हें थोड़ा ऊपर उठाया जाता है जिससे भिन्न संख्या के हरे कंगन पहनाए जा सकें। ये हरे कंगन वैवाहिक शुभ चिह्न होते हैं जिन्हें वैधव्य के समय तोड़ दिया जाता है, और इनके मध्य में बैंक के नोटों को खौसाया जा सकता है। उसके कंठ के चारों ओर अनेक प्रकार के कंठाभरण (टीके) लटकते हैं जिनमें से एक सर्वश्रेष्ठ वैवाहिक चिह्न होता है जो पवित्र मिलन

(मुत्तू) पर अपनी मोहर लगा देता है। यह कंठाभरण श्वेत और लाल मनकों से गुंथे रहते हैं जिनके ऊपर चमकदार छोटे सिक्के लटकते रहते हैं जिन पर येल्लम्मा का चित्र अंकित रहता है, इस प्रकार जोगम्माओं के मध्य यह 'मुत्तू' एक मातृरेखीय अनुक्रम के रूप में हस्तांतरित होता रहता है। इस पर आधारित दो कौड़ियों के कंठे और पहनाये जा सकते हैं जो उन राक्षसों के कपाल का प्रतीकीकरण करते हैं जिन्हें देवी ने काल कवलित किया था : बेंत से बना एक छोटा चतुर्भुजीय आकार का पालना (टोटल्ला) : फूलों की मालाएं : और यदि 'जोगती' लिंगायत वीर शैव सम्प्रदाय की हुई, जैसा कि बहुधा होता है, तो रजत संपुट (इष्टलिंग) जो एक छोटे लिंग को व्यक्तिगत रूप में रखते हैं, वे इस साजसामान को संकेतित करती हैं।

देवी की इस प्रतीकात्मक प्रतिमा को और उसके मुख्य लक्षण को पूरा करने के लिए 'कोड़' को कभी कभी उसके चारों ओर एक वस्त्र के टुकड़े से आच्छादित किया जाता है, सामान्यतः हरी साड़ी के एक टुकड़े से जिससे कि वह एक स्त्री का पहनावा लगे। जग की परिधि को अक्सर एक बहुरंगी वस्त्र से ढंका जाता है जिस पर क्रमिक अंतरालों से धातुओं के पांच कलशों को व्यवस्थित किया जाता है और इसी के साथ सम्भवतः एक नाग और मातृहंता परशुराम की एक मूर्ति को भी रखा जाता है।

जग के अनेक प्रभावशाली आयाम होते हैं क्योंकि अवकाश के समय इन गुणों के समूह को अलंकारों की इच्छा अथवा भक्ति की तीव्रता के अनुसार बढ़ाया जा सकता है। इन सभी प्रकारों में हम इन टोकरियों–जग या कोड़ में देवी की चल प्रतिमा को देख सकते हैं जिसे उत्सवमूर्ति की संज्ञा दी गयी है। उस प्रतिमा का स्वरूप व्यक्तिगत होता है। अर्थात् यह परिवारों के लिए होती है न कि मंदिरों के लिए।

इन प्रतिमाओं की नियत अलंकारिक समृद्धि के रहते हुए भी कभी हम उनके साथ अधिक ग्राम्य या आदिम प्रकार की टोकरियों को भी पाते हैं जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं होते। देवी की धातु प्रतिमा के स्थान पर अपेक्षाकृत स्थूल बहुरंगवाली लकड़ी में अत्यन्त मानवाकारी येल्लम्मा की मूर्ति मिलती है। इसके अलावा, ये टोकरी वाहक एक- तारा वाद्ययंत्रों को नहीं रखते हैं जो हमेशा जोगती, सुत्ती या चौड़ीके से सम्बन्धित होते हैं वरन् उनका सम्बन्ध एक ढोलक से होता है जिसे वे लकड़ी की टेढ़ी छड़ियों से पीटते हैं। इन टोकरियों के वाहक भारतीय सामाजिक वंश परम्परा की निम्नतम जनजातियां होती हैं और यह प्रदर्शित करती हैं कि 'जोगती' की प्रथा समाज के विभिन्न स्तरों में व्याप्त थी; बिना यह जाने कि यह प्रथा प्राचीन काल से एक

जनजातीय धर्म का अवशेष है या हिन्दू धर्म से ग्रहण की हुई प्रथा का अवशेष है। हम इस प्रथा में भारतीय संगठन के सामाजिक सातत्य की उस पुष्टि को देखना चाहेंगे जो जनजाति से जाति में संक्रमण का रूप रखता है।

उसका रूप और गुण कुछ भी हो टोकरी को सामान्यतः घर में पूर्व की ओर रखना चाहिये जिससे कि भक्तगण दिन में दो बार सूर्योदय और सूर्यास्त के समय उसकी पूजा कर सकें और साथ ही उस पर अपनी भेंट चढ़ा सकें। यह कर्मकाण्ड मुख्यतः मंगल और शुक्रवार को ही होता है जो दिवस जोगवा (मांगना) में उसके प्रयोग को समर्पित होते हैं। इन दिनों में प्रातःकाल में टोकरियों को पूजा के समय कुमकुम, बन्धार, फूलों आदि से सजाया जाता है। संध्या समय उन्हें अलंकार विहीन कर सुला दिया जाता है। सामान्य रूप से उनके सामने सुगन्धित धूप और एक तेल का दिया रखा जाता है जो लगातार प्रज्वलित होता रहता है। इस प्रकार यह टोकरी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मातृरेखीय क्रम में चलती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया को "परिवार ज्योति के हस्तान्तरण' के रूप में जाना जाता है।

कभी कभी इस टोकरी का घर में प्रस्थापन, उस घर को एक छोटे घरेलू मंदिर में परिवर्तित कर देता है जिसे खूब सजाया जाता है। ऐसा हमने उस समय देखा जब हम एक निम्न जाति (सोनागार) के निर्धन 'जोगप्पा' के निवास स्थान को गए जिसका घर धारवाड़ के सीमंत पर स्थित था। उसने हमें बताया कि वह 16 वर्ष की आयु में इस मंदिर का पुजारी अथवा दीक्षित हुआ। इस अवधि में उसे यह पता चला कि उसकी नपुंसकता (नामर्दी) ही उसके पुजारी होने का कारण है। तब से वह प्रत्येक सुबह और शाम अनुष्ठान को करता है और प्रत्येक मंगलवार और शुक्रवार को वह उस क्षेत्र के 'जोगम्मा' और 'जोगप्पा' को महान पूजा के निमित्त एकत्र करता है और भक्ति संगीत के साथ येल्लम्मा के कीर्ति-नृत्य (चौदिका) में उनके साथ सम्मिलित होता है। यह उसे वर्ष में पांच बार 'सोनदत्ती' की तीर्थयात्रा जाने से वंचित नहीं करता है क्योंकि उसने यह प्रतिज्ञा उस समय ली थी जब वह काफी छोटा था।

यदि भक्तगणों से टोकरी या पात्र के बारे में पूछें जैसा कि हमने कई बार किया और उसमें कदाचित बेढंगेपन के साथ अमर्यादा पर जोर हो जाता था। तब हमें जो उत्तर मिले वे या तो प्रेरणा शून्य होते थे अथवा असाधारण रूप से संकेत बहुल होते थे। कभी कभी उत्तर व्यर्थ से लगते थे जबकि वहां के मूल निवासी उन तत्त्वों का वर्णन करने लगते थे जिनसे टोकरी बनती थी। उस अवस्था में उनके वर्णन ठीक एक सूची जैसे होते थे। कभी कभी उनका विवेचन रूपकात्मक दृष्टि से इतना सार्वभौमिक होता था कि उनकी सामान्य व्याख्या निराधार सी लगती थी। इस दूसरी

स्थिति में वे ऐसी विश्लेषात्मक युक्तियों को देने का प्रयास नहीं करते थे जो इस व्याख्या को उचित ठहराये। साधारण वर्णन और प्रतीकात्मक व्याख्या में कोई तारतम्य नहीं होता था। वस्तुतः नृतत्वशास्त्रीय उलझन की स्थिति इस खाई (जो सभी भक्तों के लिये समान नहीं होती) में होती है जो बांस की टोकरी, मोरपंख येल्लम्मा की मूर्ति साधारण सूची तथा इस बलात् व्याख्या जो द्विअर्थकताओं से मुक्त नहीं होती है, के बीच होती है। क्योंकि हमें टोकरी में देवी के, ईश्वर के वाहन को या इस संसार को देखना पड़ता है, इन दोनों पक्षों में हमें दो प्रकार के साक्ष्य प्राप्त हुए जो हमारे लिए एक दूसरे से अलग हैं, परन्तु भक्तों के लिए समान महत्व के हैं। व्याख्या की अस्पष्ट प्रकृति उनके लिए सामान्य है क्योंकि वह एक घिसी पिटी व्याख्या का फल है परन्तु उसका परिणाम यह तथ्य है कि हम उसी भाषा में सहभागी नहीं हैं।

स्वयं टोकरी और प्रत्येक घटक से सम्बन्धित, असम्बद्ध एवं आकस्मिक बिखरी हुई सूचनाएं, जो उनके लोकप्रिय विश्वासों को व्यक्त करती हैं, जो कभी कभी अति आदिम प्रकार सी ज्ञात होती हैं, मिथकीय संदर्भ जो सदैव सांकेतिक होते हैं, प्रथाएं जो न्यूनाधिक रूप से उनके द्वारा प्रयुक्त होती हैं, आंकड़ों का एक ऐसा समूह प्रस्तुत करती हैं जिसकी तुलना पहले से की जा सकती है। एक बार इन घटकों को एकत्र कर उनकी तुलना एवं विरोध को दर्शाया जाने पर, उस समय वे मुहावरे और कर्मकाण्डीय रीतियों की दृष्टि से एक अत्यन्त सुसंगत रूप ले लेते हैं जो व्याख्याकार के लिए भी एक आश्चर्य है। इस सुसंगतता के ज्ञानमीमांसात्मक स्तर पर प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है, लेकिन फिर भी इसके द्वारा सरल वर्णन और सामान्य व्याख्या के बीच की खाई को क्रमशः पाटा जा सकता है। मानो अर्थ व्याख्या के कार्य का भाष्यात्मक लक्ष्य उस अर्थ को दर्शाना हो जो बहुधा स्थूल व्याख्या में छिपे होते हैं तथा सांस्कृतिक मध्यस्तताओं को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार यह शोध न्यूनाधिक चेतन साहचर्यात्मक सम्बन्धों को जो उस व्यक्ति के बोध में रहते हैं जिससे प्रश्न किया जाता है। यह एक ऐसा चक्रक अभ्यास है जो संकेतित सामान्य दिशा अथवा वर्णित विषयों की विषम संहति से आरम्भ होता है—दोनों स्थितियों में हम इसे स्थानीय ब्यौरों से ही प्राप्त करते हैं— यह पूरी प्रक्रिया अप्राप्त सूत्रों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक प्रेषित करने के अधिकार में अन्तर्निहित है।

इस अर्थ में, एक नृतत्वशास्त्रीय व्याख्या प्रतीक की अर्थ व्याख्यात्मकता से बिल्कुल समानता नहीं रखती है। इसके स्थान पर उसका कार्य उस स्थानीय व्यक्ति के अव्यक्त सांस्कृतिक साहचर्यों को विश्लेषणात्मक रूप में समान धरातल देना है जो उन्हें या तो इतना व्यक्त मानता है कि उनके रूपायन की आवश्यकता नहीं रहती या

जो अचेतन का अंग बन गये हैं। एक नृतत्वशास्त्री को उन सांस्कृतिक अर्थों का जो प्रतीकों के जंगल से जुड़े हैं जो यहां आनुष्ठानिक वस्तु में रूपकात्मक ढंग से मूर्तमान होते हैं, उसके अपने पाठकों के विमर्श की कोटि के अन्तर्गत ही अनुवाद करना चाहिये।

नागराज और मयूर

इसे तार्किक अन्तर्विरोध के स्तर तक लाने के स्थान पर हम उस प्रतीकात्मक अनेकार्थकता को गंभीरता से लें और इस अभिव्यक्ति को शब्दशः समझें जो जोगती द्वारा पुष्ट की गई अर्थात् जग देवी का वाहन है और उस समय भी जब वे साथ ही यह कहते हैं कि वह स्वयं येल्लम्मा है। जिससे सर्वप्रथम हमने भारत में उन पशुओं को देखा जो पारम्परिक रूप से देवताओं के वाहन हैं।

सम्भवतः उत्तर में हम मयूर को ले सकते हैं जिसके पंख देवी की मूर्ति के पीछे एक प्रभामंडल के रूप में व्यवस्थित होते हैं जो देवी के लिए एक मुकुट का कार्य करते हैं। ये उपकरण सर्वाधिक दृश्यमान होते हैं। यह जग (टोकरी) का भी एक सामान्य पक्ष है जब वह जोगती के सिर पर ले जाए जाते हैं जो महान पक्षी के नृत्यात्मक लालित्य का संकेत देते हैं।[1]

लेकिन यह एकार्थक पहचान उस तथ्य को एक तरफ रख देती है कि अनेक 'जग' धातुमंडित नाग मस्तकों को वहन करते हैं। अतः यदि हम 'जग' के पशु प्रतीकवाद को ध्यान में रखें, तो हम यथार्थतः अपने समक्ष दो सम्बद्ध पशुओं को पाते हैं : मोर और सर्प। लेकिन जिस सीमा तक ये प्राणी लाक्षणिक रूप में जग (या टोकरी) में एक दूसरे के पूरक हैं और जिस सीमा तक एक देवता का एक ही वाहन है, हम उस उपपत्ति के जोखिम को भी उठाते हैं कि यह दो जीवधारियों का एक में संयुक्तिकरण है और प्रत्येक के अत्यधिक विशेष गुणों को मान्यता देते हैं : प्रथम में मोरपंखों का फैलाव और दूसरे में नाग का बढ़ा हुआ फन। टोकरी जो देवी का वाहन है यह नागराज और मोर के दो उपलक्षकों से युक्त है। ये दोनों उपलक्षक नागराज और मोर एक तरह से एक काल्पनिक एवं गाथात्मक पशु के प्रतीकात्मक स्थानान्तरण के समान हैं जो कि भारतीय मिथकों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं— मकर, मीन पुच्छ युक्त हाथी, शरभ, पर्वतों में अष्टपाद युक्त पशु, तिमिंगिला, मछली भक्षक....। इसी प्रकार यह अद्भुत पशु जिसे हम 'नाग-मयूर' का संयुक्त बिम्ब कह सकते हैं, (यदि उनमें से कोई एक दूसरे से भारी न हो जाए, जिसकी सम्भावना पौराणिक ग्रन्थों में स्वीकार की जाती है, यथा सूर्य का पृथ्वी को आवृत्त करना)।

मात्र एक पशु में इनका साहचर्य एवं संयुक्तिकरण इस राजसी प्रतीकवाद में समाविष्ट है जिसकी एक निदर्शनात्मक श्रृंखला हमें प्राप्त होती है। वास्तव में यह कल्पित युग्मन (येल्लम्मा के कारण) शिरोच्छन के द्वारा सम्भव होता है। नागराज का सिर मोर की कलंगी का स्थान ले लेता है। परन्तु इसके बावजूद सर्व भारतीय संदर्भ में ये दोनों पशु कभी कभी एक दूसरे के बहुधा विरोधी भी प्रतीत होते हैं। सामान्यतः मोर का सम्बन्ध उच्च ब्रह्माण्डीय तथा खगोलीय क्षेत्रों से रहा है जबकि सर्प का सम्बन्ध उससे विपरीत है। सर्प एक नारकीय जीव है जो अक्सर आद्य और अपकारी भूमिगत शक्तियों का अवतरित रूप है। सरीसृप की रेंगने की प्रवृत्ति के विपरीत मोर एक आकाशीय जीवन का प्रतीक है जो देवताओं की तरह उच्च स्थानवासी है और जो धरती को नहीं छूता है उसी प्रकार मोर वृक्षों की शाखाओं पर रहता है। एक चमत्कारी मुरगा जिसे महाभारत के पर्व 9 और 13 में 'चित्रभरिन' संज्ञा दी गयी है और जो गरुड़ का प्रिय पुत्र है। कृष्ण का वाहन श्वेत वाहन है (?) कृष्ण का मुकुट मोर मुकुट कहलाता है। पुरा कथाओं में एक दिव्य पक्षी जो सूक्ष्म शरीर को स्वर्ग में ले जाता है जिसकी पहुँच सौर-जगत या स्वर्ग में होती है; अश्वमेघ के राजसीय अनुष्ठान में आत्माओं के इस वाहक की स्वर्ग की यात्रा को सुलभ बनाने के लिये बलि दी जाती है।

यह सामान्य विरोध की स्थिति अनेक विशिष्ट मतभेदों में प्रस्फुटित होती है। दोनों के वन्य प्राणी होने पर भी केवल मोर का ही शिकार किया जाता है या उसे पाला जाता है। इसका मांस राजवंशों में अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। अगर इन दोनों को राजकीय प्रतीकवाद से जोड़ा जाये तो एक को शक्ति प्रयोग के लक्षणों के रूप में संकेतित किया जाता है जो संस्थानिक और औपचारिक है, दूसरे का सम्बन्ध राजकीय जीवन से है, विशेषकर कामोद्दीपक वेश्यावृत्ति से क्योंकि यह बहुलिंगी मुरगा अपने नृत्य की मनोहारता से, अपने सम्मोहनकारी सौंदर्य से, अपनी कर्णकटु संगीतात्मक विलक्षणता या तीखी आवाज से यह प्राणी प्रेम का एक आदर्श संदेशवाहक बनाया जाता है जो कि अक्सर लघुचित्रों में प्रेमियों के वियोग को व्यक्त करता है। हम यहां एक सटीक समरूपता मयूर का 'जोगती' से और पार्थिव गणिकाओं और योगियों के राजा जमदग्नि की दिव्य सहपत्नियों के बीच पाते हैं। क्या कवि कालिदास ने अपनी कृति 'मेघदूत' में मयूर को क्रीड़ मयूर या श्रृंगारिक सुख के रूप में स्वीकार नहीं किया है जो कि तालियों की ध्वनि पर नृत्य करने और जलीय एवं वानस्पतिक यक्षणियों के बाजूबंदों की ध्वनि के साथ उसको प्रशिक्षित नहीं किया जाता था जो 'जोगती' से कुछ न कुछ समानता भी रखती हैं ?

यदि ये दोनों प्राणी विरोधी रूप में जल की ओर संकेत करते हैं तो सर्प भूमिगत जलीय संसार का या अव्यवस्था को प्रतीकीकृत करने वाले आद्यजल का निर्देश करता है, दूसरी ओर मयूर मानसून की मूसलाधार वर्षा का प्रतीक है। दक्षिण भारत में इसका नृत्य जिस पर कार्तिकेय का स्वामित्व माना जाता है, जो मानसून की हितकारी वर्षा को लाता है या उसकी घोषणा करता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उसके नील-हरित पुच्छ पंखों का खिलना जो उर्वरता की पुनर्जीवित प्रकृति का आह्वान करता है। इस पर भी अत्यधिक प्रतिरोध करना युक्तियुक्त नहीं लग सकता है। परन्तु हम इस बात को कैसे नजरअंदाज कर दें कि 'जोगती' का आनुष्ठानिक परिधान या तो हरी साड़ी है अथवा श्वेत साड़ी। यह श्वेत साड़ी परवर्ती विशेष रूप से मांगलिक है क्योंकि इस रंग का मयूर राजदरबार में प्राप्त होता था।

यदि हरे/श्वेत रंग का पहनावा कभी कभी समुद्रों के पानी का संकेत देता है, तब भी यह उर्वर आद्यजल के अर्थ में ग्रहण होता है, इस अर्थ में भी उसका सम्बन्ध नदी से होता है जो उसे एक तीर्थ के रूप में रूपान्तरित करता है। इस तीर्थ का जल 'मुक्तिकारक जल' है जैसा कि सोगल ग्राम की एक दंतकथा में प्राप्त होता है जो सोनदत्ती से 19 किलोमीटर दूर है। यहां पर मालप्रभा नदी एक विशाल घाटी से बहती है जिसे "नाविलु तीर्थ" कहते हैं। दंतकथा कहती है कि एक मयूर, जिसका पीछा राक्षस कर रहे थे, यहां आया था। वह इतना थका हुआ था कि उसमें आगे जाने की शक्ति नहीं थी, उस पर्वत को जो उसके मार्ग को रोके हुए था, पार करना और भी कठिन था। वह मयूर एक विराट तथा ऊंची शिला पर पहुंच कर दयनीय अवस्था में सहायता हेतु चिल्लाने लगा। नदी ने उसकी चीखों को सुना और उसने पर्वत को दो खण्डों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार पीछा करने वालों से मयूर को अलग कर दिया।

हम इन दोनों प्राणियों की तुलना उष्मीय मूल्यों के स्तर पर भी कर सकते हैं। जोगती पर जब देवी की शक्ति आती है, वह भावसमाधि या मूर्च्छा में वशीभूत हो जाती है और एक अति उत्तेजना की दशा का प्रदर्शन करती है जो कुछ भक्तों के लिए सहवास ऋतु में मयूर के पक्षों की फड़फड़ाहट से तुलनीय है। इसके विपरीत सर्प की शीत-प्रकृति जो यद्यपि तपस्वी की तपस उत्तेजना से सम्बन्धित है, वह यथार्थ में यौन शक्तियों पर उसके नियंत्रण और अधिकार का संकेत करती है। सत्य में जोगती 'चौरी' नाम के एक पंखे को खोलती है जो एक अलंकृत रत्न जटित मूठ का बना होता है, जिसका किनारा याक के ऊन/बाल का होता है। उसका कार्य भावसमाधि की दशा में उत्तेजित देवी या जोगती को शांत करना है।

तो भी, इन दोनों जीवधारियों का पूरकात्मक विरोध श्रेणीबद्ध अनुक्रम को प्रदर्शित करता है। जैसा कि लोकप्रिय पुरागाथाओं और लोकगीतों में बार बार कहा गया है, मयूर एक सर्पभक्षक प्राणी है जिसका मांस विष निरोध में रोगनाशक शक्ति का काम करता है। कभी कभी यह कहा जाता है कि इसके पंखों का अति अलंकृत रूप सर्प के विष को शोषित करने का फल है।[2]

हम इस विश्वास पर बल देते हैं कि मोर सांप को मारता नहीं है, वरन् अपनी अद्‌भुत विमोहनकारी दृष्टि से, ऐसी दृष्टि जो सरल पंखसमूह के सहित अपार शक्ति रखती है, वह सर्प को अपने वश में रखने में समर्थ होता है। उसका अपनी चोंच में सर्प को लिए रहना है अथवा अपने पंजों में उसे दबाए रखना है, उसकी एक श्रेष्ठता को दर्शाता है। ऐसा अंकन मूर्तिकला में प्राप्त होता है जहां मयूर एक प्रभुत्वकारी और विजयी योद्धा के रूप में चित्रित किया जाता है। यह चित्रांकन परम्परागत उस हिन्दू प्रतीकात्मकता का निर्देशन करता है कि कैसे अशुभ शक्तियां अधिकार में रखी जाती हैं। नेवला/सर्प की अपेक्षा कम ज्ञात मयूर और सांप का विलोमी युग्म प्रथम के ऊपर, दूसरे की सम्मोहन शक्ति का प्रभाव प्रदर्शित करता है, वह भी इस बार उसके बहुचक्षु युक्त परिधान के वशीकरण द्वारा वह सरीसृप को अपनी सहस्त्र दृष्टि से स्तंभित कर देता है। इस पक्षी की गाथा के मूल में इस दृष्टि के दिव्य उद्‌गम का संकेत प्राप्त होता है :

"एक दिन लंका के राजा रावण ने स्वर्ग पर देवताओं के साम्राज्य पर विजय प्राप्त करने के लिए आक्रमण किया। देवताओं के राजा इन्द्र ने एक पक्षी के अति प्रचुर पंख समूह के नीचे शरण ली। इस रहस्यात्मक आश्रय की कृपा से इन्द्र की सुरक्षा हुई। इन्द्र ने यह कहते हुए उसे धन्यवाद दिया— "मैं सहस्त्राक्ष का स्वामी हूँ और क्योंकि तुमने मेरे जीवन की रक्षा की है, अतः अब से आगे 'तुम्हारा एकवर्णी' पंखसमूह सहस्त्राक्ष से सुशोभित होगा।"

मयूर और सर्प की श्रेणीबद्ध संपूरकता प्रथम विलय के समान है : सरीसृप को अपना विषय बनाने के कारण पक्षी तामसिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने और साथ ही राक्षसी शक्तियों के दमन का प्रतीक है। परन्तु जब तक कि वह अपने फैले पुच्छ पंखों के द्वारा ब्रह्मांड की समग्रता का प्रतिनिधित्व करता है, वह स्वयं देवी में विलीन हो जाता है अथवा देवी के द्वारा अतिक्रांत किया जाता है। यह देवी परिभाषतः अतिब्रह्मांडीय रूप रखती है जो जगत पर साम्राज्य करती है। व्युत्पत्ति मूलक अर्थ की दृष्टि से येल्लम्मा का अर्थ है "सबकी माता" और जिसे 'जगदम्बा' भी कहते हैं। यदि अनुवाद के अर्थ को माना जाये तो इसका अर्थ 'टोकरी या जग की माता' या

'संसार की माता' होगा जिसका ब्रह्मांड के ऊपर परम् साम्राज्य है क्योंकि यह विश्व उसी का विस्तार है। अतः कुछ भक्तगण मयूर के चमकदार पंखसमूहों के किरीट को देवी की दीप्तमान माया से सम्बन्धित करते हैं। वस्तुतः दिव्यता विश्व के भिन्न स्तरों को समाकलित कर लेती है क्योंकि वही उसका उद्गम स्रोत है और वह अपनी शक्ति से संसार की समग्रता को आवृत्त किये रहती है। यदि मात्र मयूर को केवल दक्षिण भारत में कुछ पुर्लिंगीय दिव्यताओं यथा मरूकन, सुब्रह्मण्य या कार्तिकेय[3] का वाहन माना जाये तो दूसरी ओर उसे स्त्रिलिंगीय दिव्यता कौमारी का वाहन भी माना गया है। यह कौमारी सप्त मातृकाओं में से एक है जो 'मयूर पुरुष' अर्थात् 'शक्ति देवी' के रूप में सृजनात्मक शक्ति और ऊर्जा को मानवीकृत रूप प्रदान करती है।

हम इस बात को यह कहकर समाप्त करेंगे कि मयूर एवं सर्प अपने सम्पूरक विरोध में जैसा कि आकृति 1 में दिखाया गया है, प्रत्येक अपनी विशिष्ट गति के द्वारा धीमी ऊर्ध्वमुखी चाल एवं आकस्मिक धरातलीय प्रदर्शन–जगत के प्रकटीकरण को विशिष्टतया दृश्यमान रूप देते हैं। जगत जो देवी की क्रियाशीलता में निहित ऊर्जा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

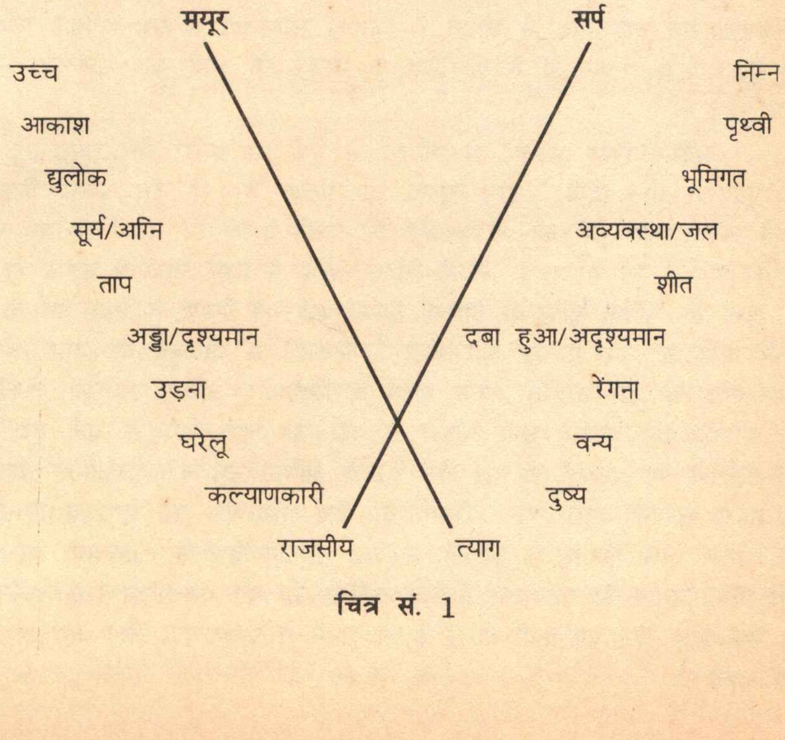

चित्र सं. 1

जोगती के केश

जोगती के पहनावे का अत्यधिक प्रकट गुण उसके लम्बे और बहुल केश हैं, अथवा हम प्रति मुहावरे के रूप में कहने का साहस कर सकें तो यह जटिल केश विन्यास है जिसे 'जटे' कहते हैं जिसका उद्‌गम, भक्तों के अनुसार देवी की शक्ति है।

यद्यपि सभी जोगती इसे नहीं पहनती हैं, परन्तु परम्परा की यह मांग है कि वे लम्बे प्रभावशाली केशों को बढ़ने दें। इनमें न कभी कंघी की जाती है, न उन्हें सुलझाया जाता है। यहां तक कि उन्हें धोया भी नहीं जाता है। इस प्रकार वे भेड़ के ऊन का रूप ग्रहण कर लेते थे जिनकी मात्रा निद्रा में एक व्यवधान हो सकती है। ऐसा और भी अधिक इसलिए कि केश में कुमकुम और बंधार इस कदर लगाया जाता था जिससे यह लम्बी केशिका गुच्छ मूल केशों की तरह न पहचाना जा सके जो कि पहले की अपेक्षा अधिक कठोर और व्यर्थ कूड़े के समान लगता है। सिन्दूर लगाने के बाद साड़ी के आवरण में उसे खुली हवा में छोड़ दिया जाता था जिससे विवाहित स्त्री का पद का पता चलता था अथवा उसे एक लम्बे वस्त्र में प्रवेश कराया जाता था जिससे केश घुटनों के नीचे तक आ सकें। कुछ जोगप्पा इसकी अनुकूलता सर्व प्रतीकवाद से जोड़ते हैं जिसका स्पष्टतया सम्बन्ध भगवान शिव के सुनियोजित केश-विन्यास से है जो शिव के मस्तक के चारों ओर सर्पाकार रूप में स्थित रहते हैं।

अक्सर निम्न जातियों में कौमार्य से पूर्व इस प्रकार के 'चमत्कारी' केश का दृष्टिगत होना देवी द्वारा चुनाव का प्रतीक है। जो इस प्रकार शिशु के अपने प्रति समर्पित होने की आवश्यकता को प्रकट करती है। यथार्थ में, यह फफूंद का ही रूप है जो सहज ही चिकने-चिकटे बालों में प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं : इसी से आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी निम्न जाति की स्त्रियां, मासिक धर्म के बाद अपने केशों को माह में एक बार धोती हैं। नकारने के बावजूद यह देखा गया कि लोग कन्या को देव समर्पित करना चाहते हैं, विशेषकर अधिक उम्र की जोगती जो इस परम्परा को बनाये रखना चाहती हैं और वह गुप्त रूप से चुनी हुई कन्या के बालों में इस फफूंद को रख देती हैं। ये अधिक उम्र की देवदासियां वेश्यावृत्ति के शहरी माध्यमों और निर्धन परिवारों के बीच मध्यस्थता का कार्य करती हैं जो इस प्रकार सीधे पुजारी से सम्पर्क न कर उन युवतियों को देवदासी की दीक्षा द्वारा पवित्र करती हैं। इस प्रथा में ये अधिक उम्र की देवदासियां भिन्न भागीदारियों को एक साथ लाने का काम करती हैं जो उनमें से प्रत्येक के लिये अर्थ लाभ का रूप रखता है।

वयोवृद्ध देवदासी कभी भी अपनी प्रथा की दृष्टि से इस "भयंकर भूसा" या इस "सुगंधित जंगल" को पहनना नहीं भूलती— रीति की दृष्टि से इसे व्यक्त करने के लिए क्लोदेली अथवा बॉदलेयरि रूपक को अपना सकता है— जो देवी की सर्वशक्ति को प्रमाणित करता है। यह इसलिये भी कि स्थानीय विश्वासों की दृष्टि से जोगती की पवित्र प्रकृति और प्रचुर शक्ति उसके लम्बे और अत्यधिक सघन केशों के अनुपात से अनुमानित की जाती हैं। एक अन्य, बहुधा रूपायित विश्वास यह प्रकट करता है कि रात्रिकालीन पूर्णमासी चन्द्रमा की वृद्धि और जोगती के केशों की बढ़ोतरी में एक समानन्तरता है जो देवी की शक्तियों के विस्तार के लिए एक विशेष-अधिकार कालावधि है। इस पर भी यह विश्वास कि अगर जोगती अपने केशों में तेल लगाती है, उन्हें संवारती है अथवा खोलती है, तो वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जायेगी या अस्वस्थ हो जायेंगी अथवा अपने परिवार का अमंगल करेगी। इस पर भी संभावना है कि इस केश गुच्छ से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। यह छुटकारा एक ऊंचे मूल्य पर प्राप्त पुजारी के अधिकार में है और देवी येल्लम्मा के समाने जोगती के बालों का मुण्डन किया जा सकता है। यह केशों के काटने की क्रिया मंदिर के बाहर हाडापाड जाति के नाई द्वारा सम्पन्न होती है जिसका आवास निकट ही होता है।

यह नाई उस अवसर का अनुष्ठाता है जब भक्तों के परिवार मंदिर के समापन- समारोह में अपने प्रथम जन्मे लगभग एक वर्ष के बालक या बालिका को मुंडन हेतु लाते हैं।

अक्सर यह भी होता है कि यह कठोर बालों का गुच्छ खंडित हो जाता है तब जोगती इन लटों को इसलिए सुरक्षित रखती है कि उन्हें देवी को भेंट कर दिया जाये। इसके करने के लिए वे इसे एक या अधिक कौड़ी सीपी के कंठाभरणों के साथ जिनका सामान्यतः हर वर्ष नवीनीकरण होना आवश्यक है एक छोटी टोकरी (पड्डलगे) में रखे जाते हैं जो देवता पर चढ़ाए भेंटों को रखने का एक आवश्यक पात्र है। इस शिर-पादप से युक्त टोकरी को भक्तगण 'देवी का उद्यान' कहते हैं, एक भूमिखण्ड जो परशुराम मंदिर के नीचे होता है जिसमें हाल ही में कुछ 'कोडेगो' वृक्षों को लगाया जाता है जिसे 'येल्लम्मा का पौधा' कहते हैं। इसकी पत्तियां लम्बी तलवार के फलक के समान होती हैं जिसकी अनेक रजतमंडित धातु की प्रतिकृतियां बनायी जाती हैं जिन्हें कभी कभी मंदिर में अवस्थित प्रतिमा के अलंकरण हेतु काम में लाया जाता है। तब इन्हें देवी के मुख मंडल के चारों ओर एक तरह से नीमचों के प्रभामंडल या फलकों के शिरविन्यास की तरह रखा जाता है।

देवी के प्रति केशों की इस भेंट से पूर्व एक पूजा जो एक छोटे सर्पआश्रय 'कारेवा' के समीप सम्पन्न होती है और यह सर्पाश्रय एक उद्यान के किनारे अवस्थित रहता है। हमें यह ज्ञात है कि वर लोग वहां फूल की मालाएं चढ़ाते हैं जो वृक्षों की शाखाओं पर या पौधों की उच्चतम पत्तियों पर लटकायी जाती हैं। यह प्रथा सामान्यतः विवाह के प्रथम वर्ष के दौरान होती है जो पत्नी की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है और एक पुत्र को उत्तराधिकारी के रूप में जन्म देती है।

दो पूरक सम्बन्ध जो स्पष्टतया भक्तगणों द्वारा निर्मित किए गए हैं उनका संकेत यहां जरूरी है।

प्रथम का सम्बन्ध इस वृक्ष समान केश विन्यास से है जो एक वन्य वनस्पति की तरह है। यह एक अनियंत्रित और मूलतः भयावह प्रकृति को उत्तेजित करता है। जैसा कि केशकीय लता जो मूलतः उस स्थान को आच्छादित किए रहती है जहां येल्लम्मा स्वयं स्थापित होती है। वे हमें बताते हैं कि येल्लम्मा का स्थान सभी आबादियों और सभी संगठित जीवन से दूर होता है, विशेषतया इसकी अवस्थिति एक पर्वत और एक सरिता की प्रतीकात्मक संयुक्ति, जिसका प्रतीकात्मक महत्व है, पर आधारित है।

दूसरे का सम्बन्ध देवी से संदर्भित एक विशेष मिथकीय घटना से है। हमें यह याद है कि जमदग्नि की साध्वी और भक्त पत्नी हर प्रातःकाल नदी से आवश्यक जल उसके स्नान हेतु लाती थी। वह अपने सर पर एक विशेष पात्र जल लाने के लिए रखती थी जिसे 'तिम्बी' की संज्ञा दी जाती है। जब येल्लम्मा ने राजा और उसकी पत्नियों की क्रीड़ा को देखा और उसमें अशुद्ध विचार उत्पन्न हो गये तब सिम्बी रूपी सर्प तपस्वी जगदग्नि, जो शिव के अवतार थे की शरण में उड़कर पहुंचा। आज हम इस शैव-पशु को जमदग्नि के आश्रय से कुछ दूर अक्षरशः पाषाण रूप में, एक ऊंचे पाषाण सर्प के रूप में देख सकते हैं जो इस मिथकीय अनुक्रम को प्रामाणित करता है। सर्प का उड़ना उसके नियंत्रण या उसकी पवित्रता से सम्बन्धित है जो सन्यासी की एक विशेषता है। जोगती का यह विरोधाभास है कि वे वैश्याएं होते हुए भी उन सन्यास मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो टोकरी या पात्र में सर्पीय संकेत को प्रदर्शित करती हैं।

यद्यपि केशविन्यास और जननांगिता के मध्य एक सरल समानता स्थापित की गयी है जो हमारे लिए आकस्मिक संयोग है।[4] एक अन्य सम्बन्ध केशों की प्रचुरता और यौनत्व की अनुपस्थिति से उस सीमा तक सम्बन्धित है जिसमें दिव्यता के प्रति

पूर्णरूप से समर्पित जोगम्मा एक प्रकार से सन्यासी ही है और जिनमें जोगप्पा अपनी इच्छा से नपुंसक या हिंजड़े होना स्वीकार करते हैं।

यदि यह एक सुपरिचित भारतीय तथ्य है कि इस प्रकार का केश-विन्यास त्यागी की अल्पतम दशा है जो सांसारिक दायित्वों से मुक्त हो जाता है, मानवीय सम्बन्धों और यौन इच्छाओं से निर्लिप्त हो जाता है, तो हम देखते हैं कि जिन जोगतियों से हमने प्रश्न किए थे, वे मूलतः मानवीय और दिव्य के बीच संक्रमण के तर्क को प्रस्तुत करती हैं। यदि देवी उनकी यौन शक्ति की स्वामिनी बन जाती है, तो बदले में वह असाधारण केशीय ओजस्विता को लौटाती है। अतः केशों के लिए यौनिकता का यह विनिमय, भक्तों की दृष्टि में दिव्य निर्वाचन का संकेत है।

इस दृष्टि से केशयुक्त प्रदर्शन में बधियाकरण[5] के नकार को और यौनिकता के प्रत्यावर्तन, और तब शक्ति के रूप में आदर्शीकृत दिव्य लिंग के उदय को देखना-संभवतया कुंडलिनी के चक्र-भेदन द्वारा एक आरोहण के रूप में-हमें ऐसी उपकल्पना लगती है जो जितनी अनसत्याप्य लगती है उतनी ही संभाव्य। फिर भी, एकत्र सामग्री की दृष्टि से यह एक अति व्याख्या है।

हम मानते हैं कि सिद्धान्त और व्यवहार के बीच अनेकार्थकता के प्रति जिज्ञासा अधिक रोचक है, क्योंकि जोगती जिनमें से कुछ वेश्यावृत्ति के द्वारा जीविकोपार्जन करती हैं, वे ही भक्ति के आदर्श को और सन्यास के मूल्यों को भी मूर्तिमान करती हैं। लेकिन इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है वह इसलिए कि दिव्य और मानवीय स्तरों के मध्य जो प्रथा संपादित होती है, वह यही प्रकट करती है। ब्रह्मचर्य और सामाजिक अनासक्ति के पुष्टीकरण से, जहाँ तक जोगती का दिव्य के प्रति वैवाहिक सम्बन्ध सूत्र —एकमात्र अनिवार्यता— का प्रश्न है, महत्वहीन है। यह गूढ़ वैवाहिक सम्बन्ध जिसकी प्रकृति रहस्यात्मक अथवा भक्तिपरक होती है, यह वेश्यावृत्ति के व्यापारिक पक्ष का स्थान ग्रहण कर लेता है। सामाजिक दृष्टि से यदि आज भी जोगती को वेश्या का निम्न स्तरीय दर्जा दिया जाता है, मूल्य के स्तर पर उसमें मंदिर दासी (देवदासी) विद्यमान रहती है।

इस तथ्य से टोकरियों को, निश्चित ही वे 'कोडा' से प्राचीन हैं, 'जग' भी कहते हैं, उनका प्रतीकात्मक महत्व होता है क्योंकि इस शब्द का कन्नड़ में अर्थ है 'विश्व'। इस 'टोकरी-विश्व' के केन्द्र में प्रतिष्ठापित देवी ब्रह्मांड के सत्तामूलक और धर्मशास्त्रीय अधिष्ठान क़ा संकेत है, जो साधारण हिन्दू धारणा के अनुरूप अनकहे ही स्वीकार्य है। यह अवधारणा कि येल्लम्मा आदि शक्ति के रूप में सबकी माता

(इला–अम्मा) और संसार की माता या जगदम्बा है, व्यापक रूप से मान्य विश्वास है। भक्तों द्वारा साग्रह प्रचारित इस दृष्टि से जोगती अपने मस्तक पर संसार या देवी को अक्षरशः ले जाती है, जैसा कि अनेकार्थक परन्तु इस बार एक निश्चित रूप में 'जगदम्बा–हुरूवूदू' जिसका अर्थ है मस्तक पर 'विश्व–माता' को ले जाना, से अभिव्यक्त होता है। सादृश्य से, जगत् शेषनाग पर टिका हुआ है, शेषनाग जिस से यहां तात्पर्य है उसके केशों की जटाएं—सहस्त्र जटाएं जो दिव्य सरीसृप (सर्प) के सहस्त्र मस्तक हैं। सादृश्य के आधार पर, डोलायमान देवी के लिये, जो अपने वाहन में डोलती रहती है, यहां मयूर के पंख समूह दिव्य पक्षी के सहस्त्र नेत्र ही हैं।

हमने केशों के सर्पीय प्रतीकवाद की ओर कई बार संकेत किया है, लेकिन मयूर से इसके सम्बन्ध को हमने कम ही विवेचित किया है। वास्तव में, द्रविड़ भाषा बोलने वालों में दो शब्दों के मध्य ध्वन्यात्मक नैकट्य कन्नेड़ में 'बालों' के लिए 'नवीरू' और 'मयूर' के लिए 'नवल' नवीला अथवा नवलु के साथ साथ वेद का अत्यन्त प्राचीन प्रतीकवाद मयूर के पंखों और केशों को इस सादृश्य पर जोड़ता है कि देवताओं के सम्राट इन्द्र के युद्धाश्वों के अयाल मयूरोमन के और पूँछ मयूरषेपा के समान हैं।

जोगती के ये ध्रुवीकृत गुण, पशु के इस प्रतीकात्मक समुच्चय से कहीं अच्छी प्रकार कैसे व्यक्त किये जा सकते हैं ? इसे मयूर द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, प्रथम, कामोद्दीपन और उर्वरता की द्वैतता के कारण, क्योंकि देवदासी होने के कारण उसकी क्रियाएं 'काम' की ओर अभिमुख होती हैं और 'सदा मांगलिक नारी' (नित्य सुमंगली) के रूप में[6] वह वानस्पतिक उर्वरता, पशुधन तथा परिवारों की अधिष्ठात्री मानी जाती है। बाद में वह सर्प जो मोक्ष की संभावना का प्रतीक है क्योंकि जोगती अपने देवता के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित है, सन्यासिनी है जैसा कि उसके नाम की व्युत्पत्ति से पता चलता है, जो संस्कृत के 'योग' शब्द से प्राप्त होता है।

जैसा दूसरे चित्र से प्रदर्शित है कि अनुष्ठान के द्वारा तथा और अधिक सघन रूप से विश्वासों के वैषम्य और प्रतीकात्मक साहचर्य द्वारा स्थिति को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त किया जा सकता है— केश से लेकर टोकरी तक, क्या हम इससे विश्व की एक वास्तविक प्रतीकात्मक संकल्पना का साक्षात्कार नहीं करते हैं जो लोकों के स्तरीकरण में अपने मूल्यों को श्रेणीबद्ध और निर्देशित करती है ?

टोकरी	संसार
मयूर	व्योमीय
देवी	
सर्प	पार्थिव
केश	पातालीय

चित्र सं. 2

हिन्दुत्व में प्राचीन वैदिक धर्म में अभिव्यक्त दिव्य सर्वव्यापी पिता की गहन अन्तःअनुभूति से अनुकूलता रखते हुए जो देवी के विरोधाभासी होते हुए भी देवी के चित्रात्मक निरूपणों की विविधता जो अनेक टोकरियों में होती है बोझिल प्रतीत नहीं होती। सत्य में, भारत में देवताओं के चित्रांकन में श्रेणीबद्धता है, और मंदिर में स्थापित मूर्ति जो येल्लम्मा के निकटतम है—दिव्य शक्ति को टोकरियों की अपेक्षा अधिक सघन रूप प्रदान करती है। क्या भक्तगण बार-बार यह नहीं कहते हैं कि देवी की दुर्दम्य शक्ति के कारण मंदिर स्थल के पास सभी संभोगपरक और पारिवारिक जीवन का होना असंभव है। लेकिन भ्रामक आभास के बावजूद टोकरी में मानवारोपी प्रतिमा कभी भी एक मूर्त रूपायन नहीं हो सका। इसके स्थान पर इसमें हम एक 'अगम दिव्य तरलता' की सघन उपस्थिति तथा एक प्रकार से, एक साथ अस्थायी और डोलायमान, दिव्य के 'जमाव' को देखते हैं (मालामोड 1968 : 80)। मानो देवी की यह प्रकृति हो कि वह अपने को विभक्त करे और क्रम से अपने को पुनर्संयोजित कर सके अर्थात् एक साथ वह एक और अनेक हो सके। अपने को अनेक खण्डों में विभक्त कर, तथा प्रत्येक खण्ड का सम्पूर्णता का बिम्ब होने से, दिव्य हर जगह उपस्थित, और सब को दृष्टिगोचर होता है।

इस आनुष्ठानिक टोकरी का उपयोग मूलतः इसी तथ्य का प्रत्याह्वान है। इसे घर के अन्दर एक छोटी वेदी के समान रखा जाता है जिस पर पूजा की जाती है, यह परिवार को पवित्र एवं सुरक्षित रखती है और वंशावली को दुर्भाग्य से दूर रखती है। शोभायात्रा के दौरान यह संकेत मिलता है कि येल्लम्मा के, जो कभी हितैषी लेकिन मूलतः उभयमुखी होती है, द्वितीय आगमन से कोई नहीं बच सकता है और यह स्पष्ट करता है कि उसके अधिकार क्षेत्र में कोई भी मुक्त नहीं हो सकता है। शोभायात्रा के दिव्य नृत्यों के दौरान उसे मस्तक पर अवस्थित रखा जाता है जो भक्तगणों में दिव्य के आरोहण को प्रतीकीकृत करता है और उन्हें दिव्य की सेवा में

ग्रहण किया जाता है। वह इस प्रकार स्थित होती है कि छोटी टोकरियों (पड्डलगे) में एकत्रित पूजा हेतु खाद्य भेंट की देखरेख करती है तथा अपनी जादुई चमत्कारिक क्षमता का प्रसार करती है। सौनदत्ती की तीर्थयात्रा में जहां सहस्त्रों टोकरियां इस आशय से एकत्र की जाती थीं कि उन्हें पुनः पवित्र किया जा सके, वहां एक ओर अनेक के रूप में एक साथ दिव्य सर्वव्यापिता की सिद्धि होती है।

अंत में टोकरी का प्रतीकवाद स्थानीय बिम्ब-विधान में, जो मूल्यों को स्थापित और भावों को संप्रेषित करता है, आनुष्ठानिक क्षमता की अवस्था को प्रकट करता है। इस टोकरी का प्रयोग प्रतीकों के पुंज का सृजन करता है जिसके बिना अनुष्ठान नहीं हो सकता है। यदि टोकरी इन कृत्यों या रीतियों की गतिवान शक्ति है तो ये रीतियां अपने में आबद्ध किये प्रतीकों को ही पुनः प्रकट करती हैं। निष्कर्ष रूप में प्रतीकीकरण अनुष्ठान को अनुकूलित करता है और अनुष्ठानीकरण प्रतीकों को नियोजित करता है।

इसके अतिरिक्त अन्य देशज व्युत्पत्तिमूलक व्याख्याएं हैं जिन्हें हमने यहां नहीं दिया है। वे मूलतः अतिकाल्पनिक हैं लेकिन टोकरी, जगत् और देवी के प्रतीकात्मक अभिज्ञान के समर्थन में सहायता प्रदान करती हैं। कुछ भक्तगण 'जग' शब्द की व्युत्पत्ति 'भग' पद से मानते हैं जिसका अर्थ है 'डेल्टा' (अर्थात् तिकोनिया नदी मुख), विस्तरित रूप में इसका अर्थ 'पोषक भूमि' भी होता है। अन्यों का मानना है कि इसकी व्युत्पत्ति 'बटला' या 'वट्टल' से हुई है जिसका अर्थ है 'वृत्त' अथवा 'वह सब जो गोल है' और जो 'अवतल आकार' का है। इन दोनों स्थितियों में उनका सम्बन्ध 'योनि', 'जग' के द्वारा प्रतीकीकृत आद्यरूप नारी जननाङ्ग से है।

'टोकरी-जगत्' से सम्बन्धित रूपकात्मक लाक्षणिक स्थानीय व्याख्याओं को हम आवश्यकता से अधिक छूट नहीं देंगे, जिसे अलग सिर के रूप में सिर पर वहन किया जाता है। इस टोकरी में एक लघु विश्व को तथा सोनदत्ती के विलक्षण वृत्ताकार रूपी स्थल के बीच, जिसे विश्वासी और तीर्थयात्री जगत् की नाभि के रूप में स्वीकार करते हैं, साम्य देखना प्रतीकात्मक रूप से ही संभव है मानो कि टोकरी, सोनदत्ती और हिन्दू धर्मशास्त्र की गत्यात्मकता से अनुरूपता रखता जगत विस्तार और संकुचन के द्वारा, भक्तगण और देवी येल्लम्मा के धार्मिक विश्व के तीन प्रतीकात्मक वृत्तों का निर्माण करते हैं।

पाद टिप्पणियां

1. भारत में मोर के प्रतीकात्मक अर्थ के लिये हमने लाल (1975), नायर (1974), नायर (1977) और मुखर्जी 1979 के ग्रन्थों का सहारा लिया है।

2. हम जानते हैं कि शिव के पुत्र स्कन्द का वाहन मयूर है जो विष को अमरता के एक घूंट में रूपान्तरित कर देता है।

3. दक्षिण भारत में स्कन्द देवता के ये विविध नाम हैं (क्लोथे 1978:181:183)। हम जानते हैं कि देवी सरस्वती पारम्परिक रूप से मयूर पर आसीन दिखाई जाती हैं।

4. ऐसा विचार हर्शमान (1974) करने का प्रयत्न करता है। लीच के द्वारा (1980:321:361) नृतत्त्वविज्ञान में मनोविश्लेषणात्मक पदों में सर्वोत्कृष्ट विवेचन किया गया है।

5. ओबेस केरे (1981:33 तथा आगे) द्वारा प्रथम स्थापना का बचाव किया गया है जिसने नारी तपस्विता और केश विन्यास के सम्बन्ध को लेकर रोचक सामग्री प्रस्तुत की है। दूसरी स्थापना ओं फ्लाहर्टी द्वारा विकसित की गई है (1973:169)।

6. इस धारणा के पाठीय अध्ययन के लिये करसेनबूम (1984) के अध्ययन को देखें। हम देखते हैं कि देवदासी को पुनः व्याख्यायित करने में पुरी, मार्गलिन (1985) ने कारमन (1985) के साथ मांगलिक की भावना का पुनर्मूल्यांकन किया।

पुस्तक सूची

क्लोथे, एफ. डब्ल्यु., ***दि मैनी फैसेज़ ऑव मुरूकन, दि हिस्ट्री एण्ड मीनिंग ऑव ए साउथ इण्डियन गॉड,*** दि हेग–पैरिस मूटन, 1978.

गेर्ट्स, सी., "ल रिलीजन कोम : सिस्तेम कलतुरेल", देखें, ब्रेडबुरी, आर. ई., गेर्ट्स, सी. एवं अन्य, ***एस्से दांन्थ्रोपोलोज़ि, रिलीजियस,*** पेरिस, गेलिमार्ड (अंगरेजी संस्करण, 1966) 1972.

गेर्ट्स, सी. ***सावुआ लोकल, सावुआ ग्लोबल,*** पेरिस पीयूएफ (अंगरेजी संस्करण, 1983) 1986.

हर्शमान, पी., 'हेअर, सैक्स एण्ड डर्ट", ***मैन,*** IX, 1974, पृ. 274–298.

करसेनबूम, एस. सी., ***नित्य सुमंगली : टुवर्ड्स सैमिओसिस ऑव दि देवदासी ट्रेडीशन ऑव साउथ इण्डिया,*** डोक्टरल, शोध प्रबन्ध, रिकसूनीवर्सितेत उत्रैख्ट 1984.

लाल, के., 'पीकॉक इन इण्डियन आर्ट', ***जरनल ऑव ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट,*** जिल्द सं XXIII 1–2, 1973.

लीच, ई. आर., 'रिच्युल', ***इन्टरनैशनल एन्साइक्लोपीडिया ऑव दि सोश्यल साइंसेज*** जिल्द 13, 520–528, 1968.

लीच, ई. आर., ***लूनीते देलॉम ऐतोत्र ऐसे,*** पेरिस, गैलीमार्ड, 1980.

लैवी स्ट्राउस, सी., ***एन्थ्रोपोलोज़ि स्त्रुक्तुरेल I,*** पेरिस, प्लोन, 1958, *ला पांसे सोवेज,* पेरिस, प्लोन 1962.

मलमूंद, सी., ***ब्रीख़ ए मोत आब्सजरवत्स्यों स्युर ले को दे द्यो दां लेंदे विदीक" ले तां दे ला रिफलेक्श्यो*** VII कॉर दे द्यू, 77–98, 1986.

मार्गीलिन, एफ. ए., ***वाइव्ज़ ऑव गौड किंग दि रिचुअल्स ऑव दि देवदासी ऑव पुरी,*** दहली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस 1985.

मार्गीलिन, एफ. ए. एण्ड कारमन, जे. बी. (सम्पादित) ***प्योरिटी एण्ड ऑसपीसिअसनैस इन इण्डियन सोसाइटी,*** इन्टरनेशनल स्टडीज इन सोश्योलॉजी एण्ड सोश्यल एन्थ्रोपोलॉजी, टोरोन्टो 1985.

मुखर्जी, ए. के., ***पीकॉक, ऑवर नेशनल बर्ड,*** न्यू दहली, पब्लिकेशन डिवीजन 1979.

मुखोपाध्याय, के. एल., ***'दि पीकॉक, दि नेशनल बर्ड ऑव इण्डिया',*** कलकत्ता 1977.

नायर, जी. टी., ***पीकॉक वरशिप इन इण्डिया,*** ऐशियन फॉकलोर स्टडीज, 33, 2, 1974.

ओबेसेकेरे, जी., मैदूसाज़ हेअर : ***"एन एस्से ऑन पर्सनल सिम्बल्स एण्ड रिलीजिअस एक्सपीरिऐंस",*** शिकागों एण्ड लन्दन यूनीवर्सिटी प्रेस, 1981.

ओ' फ्लाहर्टी, डब्ल्यू. डी., ***"ऐसेटिसिज्म एण्ड एरोटिसिज्म इन माइथोलॉजि ऑव शिव",*** लन्दन एण्ड न्यूयॉर्क, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1973.

रैडक्लिफ ब्राउन, ए. आर., ***स्यक्तुर ए फोंक्श्यो द लें सोसायिते प्रिमितिव,*** पेरिस, मिन्यूइत (अंगरेजी संस्करण 1952) 1968.

5

मार्क्स और इतिहास *

एरिक जे. हॉब्सवॉम

मार्क्स के निधन के सौ वर्ष पश्चात् उसकी क्या स्थिति है? यदि हम बुद्धिजीवियों द्वारा लिखे व पढ़े जाने वाले साहित्य तथा मार्क्सवादियों के बीच चल रहे वाद-विवाद पर दृष्टि डालें तो उत्तर है : बहुत सुदृढ़ नहीं। पूर्व में विचारक मार्क्स के सिद्धान्त के राजनैतिक तथा विचारधारात्मक महत्व पर ही मतभेद रखते थे, किन्तु आज उस बुजुर्ग सज्जन की कतिपय आधारभूत स्थापनाओं—इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से लेकर मूल्य के श्रम सिद्धान्त—पर भी प्रश्न उठाये जा रहे हैं, उनके द्वारा भी जो मार्क्सवादी होने का दावा करते हैं। इस प्रश्न को बार बार उठाने के अवसर बढ़ते जा रहे हैं कि मार्क्सवाद में अब सुनिश्चित रूप में क्या बचा रहता है ? इसीलिये आरम्भ से ही यह स्थापित करना महत्वपूर्ण है कि आज—तीस वर्ष पूर्व की स्थिति से भिन्न-कोई भी इसमें सन्देह नहीं करता कि मार्क्स में **कुछ** जीवित है—वास्तव में बहुत कुछ जीवित है यदि ऐसा नहीं होता तो इस विषय पर इतना उत्साहपूर्ण तर्क-वितर्क नहीं होता, क्योंकि उन विचारकों के बारे में कोई वाद-विवाद नहीं होता जो मृत हैं।

आज कोई भी यह प्रश्न नहीं करता कि हर्बर्ट स्पेन्सर का कौनसा विचार जीवित है जबकि वे मार्क्स की मृत्यु के समय विश्व के सर्वाधिक प्रख्यात दार्शनिक व समाजशास्त्री थे और उनका नाम सेंटियागो द चिली से लेकर टोकियो तक प्रत्येक

---

* Eric J. Hobsbawm : Marx and History, ***Diogenes;*** No. 125, 1984, pp. 103-114.
अनुवाद : सरला कल्ला

शिक्षित व्यक्ति के लिये जाना पहचाना था, क्योंकि उसका अब कुछ भी नहीं बचा है। जो कोई हाईगेट कब्रिस्तान पर मार्क्स की कब्र देखने ज़ाता है वह इसकी पुष्टि कर सकता है क्योंकि मार्क्स की कब्र के लगभग सामने ही हर्बर्ट स्पेन्सर की कब्र है, उसे एकदम भुला दिया गया है। बमुश्किल ही कोई जानता है कि वह कहां है और वे ही लोग, जिनका उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास या समाजशास्त्र से परिचय है, जानते हैं कि वह कौन था। जब मैं मार्क्स और स्पेन्सर के मरणोपरान्त संयोग के बारे में उपहास करता हूँ तो लोग मुस्करा देते हैं वैसे संयोग का यह विचार मार्क्स और स्पेन्सर व्यापारी संस्थान के नाम का पूर्व निरूपण है जो नाम उस प्रत्येक देशी-विदेशी पर्यटक के लिये जाना पहचाना है जो ब्रिटेन में खरीददारी करने के लिए आते हैं।

मार्क्स सचमुच ही जीवित है। यह सत्य है कि 1883 के पश्चात् विश्व बहुत बदल गया है और हमारे लिए यह प्रश्न उठाना युक्तिसंगत है कि इसके फलस्वरूप मार्क्स की कृतियों में से कितना कुछ अप्रयोज्य हो गया है तथापि उसके निधन के शताब्दी वर्ष के अवसर पर किसी इतिहासज्ञ का प्रथम दायित्व इस प्रश्न को उठाना नहीं है बल्कि मार्क्स को हमारे लिए महत्ता और इतिहास विज्ञान पर उसके विपुल प्रभाव को रेखांकित करना है और यह प्रभाव असंदिग्ध है। सर्वप्रथम, आज ऐसे इतिहासज्ञ पहले की तुलना में कहीं ज्यादा हैं जो मार्क्सवाद से प्रतिबद्ध हैं और ऐसे इतिहासज्ञ उन समाजवादी देशों में ही नहीं हैं जहां मार्क्सवाद को नकारना असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है, बल्कि पश्चिम तथा तीसरी दुनिया के देशों में भी हैं। मैं इस तथ्य पर जोर नहीं देना चाहता—एक गैर मार्क्सवादी को उद्धृत करते हुए कि—मार्क्सवादी पिछले कुछ दशकों में विश्वविद्यालयों के सुदृढ़ गढ़ों में प्रवेश पाने में सफल हुए हैं। मैं मात्र दो उद्धरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

जार्ज आइगर्स द्वारा तैयार किए गए यूरोप और अमेरिका के 'नवीन ऐतिहासिक अध्ययन के सर्वेक्षण (***इन्टरनेशनल हैंडबुक ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज, कंटेम्परेरी रिसर्च एंड थ्योरी,*** लंदन 1979) की विषय सूची में, औरों की बात जाने भी दें रान्के और मैक्स वेबर की तुलना में भी मार्क्स का नाम सूची में अधिक बार दर्ज है और यदि मैं गलत नहीं करता हूँ तो मैं कम से कम 55 मार्क्सवादी नाम गिना सकता हूँ जिन्हें जानता हूँ। दूसरा उदाहरण युद्धोत्तर कालीन युग के संभवतः सर्वाधिक प्रख्यात इतिहासज्ञ फर्नान्द बाउदेल का महान कार्य ***'सिविलिज्या स्यों मतेरियल, इकोनोमी ए कपितलिस्म,*** सीएक्ल, 15-18 (पेरिस, 1979, 3 खण्ड) है जिसकी विषय वस्तु और शीर्षक स्वयं मार्क्स के साथ जुड़े इतिहास के मूलभूत प्रश्नों की, गैर मार्क्सवादियों के

लिए भी केन्द्रीभूत महत्ता को सिद्ध करते हैं : मार्क्स का नाम किसी भी ***फ्रांसीसी*** लेखक की अपेक्षा अधिक बार प्रस्तुत हुआ है और जो भी फ्रांस को जानते हैं वह यह भी जानते हैं कि इस प्रकार की राष्ट्रीय विनम्रता इस देश में असामान्य बात है।

मार्क्सवाद का इतिहास–विज्ञान पर प्रभाव स्व–व्याख्येय नहीं है। क्योंकि, यद्यपि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्स के सिद्धान्त का मर्म है और मार्क्स ने जो भी लिखा वह इतिहास से अनुप्राणित है किन्तु मार्क्स का इतिहास से वैसा सम्बन्ध शायद ही रहा हो जैसा किसी पेशेवर इतिहासज्ञ का होता है। एंगेल्स की अतीत में शायद ज्यादा रुचि रही और उसने ऐसी कृतियां लिखीं अथवा कम से कम उनकी योजना बनाई जिन्हें पुस्तकालयों में 'इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत कोटिबद्ध किया जायेगा। उदाहरणतः, ***'दी पीजेन्ट वॉर इन जर्मनी',*** (जर्मनी में किसानों का संग्राम) मार्क पर लिखी पुस्तिका ***'दी ऑरिजन ऑफ दी फैमिली'*** तथा जर्मन और आइरिश इतिहास पर लिखने की कुछ योजनाएं । वस्तुतः एंगेल्स के ऐतिहासिक अध्ययनों के फलस्वरूप सामंतवाद की कुछ समस्याओं यथा जमींदारी उन्मूलन पर मार्क्स की कुछ स्थापनाओं का शोध सम्भव हुआ। जिसे स्वयं मार्क्स ने स्वीकार किया है।

मार्क्स ने स्वयं 1850 में लिखे गए कुछ विवादग्रस्त लेखों, जो कि ज़ारशाही और लार्ड पामर्स्टन को लक्षित थे, के अतिरिक्त ऐसा कुछ नहीं लिखा जिसे 'इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया हो। वे उसकी सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में नहीं हैं और वास्तव में ***'दी सीक्रेट डिप्लोमेटिक हिस्ट्री ऑफ दी एटीन्थ सेंचुरी'*** (अठारवीं शताब्दी का गुप्त कूटनीतिक इतिहास) को तो रद्दी की टोकरी में फैंका जा सकता है। हम जिन्हें मार्क्स के ऐतिहासिक लेख कहते हैं वे वस्तुतः राजनैतिक टीकाएं तथा अखबारी लेख हैं, उसकी महान कृतियां ***'दी क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस, 1848 टू 1850'*** तथा ***'दी एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट'*** वस्तुतः उत्प्रेरित समकालीन पत्रकारिता है। वे उन घटनाओं, जिन्हें वे विश्लेषित करती हैं, के घटित होने के समय ही या उनके तुरन्त बाद लिखी गई थीं। उनका स्थाई ऐतिहासिक मूल्य असंदिग्ध है। यह तथ्य न केवल मार्क्स की प्रतिभा का अपितु इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की असाधारण शक्ति का भी प्रमाण है। मार्क्स ने सन् 1850 में अपने जीविकोपार्जन के लिए अखबारी संवाददाता के रूप में जो लेख लिखे उनमें इतिहास से संबंधित वह सामग्री भी थी जिसे उसने अपने दैनिक पत्र–व्यवहार के लिए एकत्र और विश्लेषित किया, उदाहरणतः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य। ये लेख मार्क्सवादी

इतिहासज्ञों के लिए रुचि का विषय है न केवल इसलिए कि वे विभिन्न घटनाओं तथा इतिहास या कि वह युग जो हमारे लिए इतिहास बन चुका है—की समस्याओं पर मार्क्स के मत को व्यक्त करते हैं बल्कि इसलिए भी कि वे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के जरिये किसी विशिष्ट ऐतिहासिक घटना के विश्लेषण का उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। रान्के की शब्दावली प्रयुक्त करें तो वे न केवल यह बताते हैं कि "वस्तुतः यह क्या था"। बल्कि यह भी कि "वस्तुतः यह क्यों था ?" तथापि इन लेखों को इतिहास के रूप में ऐसे नहीं देखा गया जैसा कि इतिहासविद् अपने विषय में देखते हैं। यहां यह भी जोड़ा जा सकता है कि उनका मूल्य समान नहीं है।

मैं पुनः दोहराता हूँ : मार्क्स ने पेशेवरी तौर पर इतिहास ***नहीं*** लिखा, यदि उसने इतिहास लिखा भी है तो वह एक आकस्मिक बात है, वैसे उसके लेख विशेष तौर पर तो भूतकाल की विशिष्ट समस्याओं पर, तथा सामान्य तौर पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया पर उसके विचारों को व्यक्त करते हैं। उसके कतिपय अभिमतों ने कालांतर के इतिहास लेखन को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया है। उदाहरणतः मैं प्रोटेस्टेंटवाद तथा पूंजीवादी विकास के सम्बन्धों पर की जाने वाली बहस के बारे में सोच रहा हूँ जो कि मूलतः ***'दास कैपिटल'*** के कुछ आकस्मिक प्रसंगों से व्युत्पन्न है तथापि मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् इतिहास-लेखन विज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है वह मार्क्स द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक प्रक्रिया पर सामान्य तथा विशिष्ट अभिमतों की समष्टि नहीं है अपितु उसके द्वारा प्रस्तुत इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है।

'इतिहास की यह व्याख्या' — मैं मार्क्स और एंगेल्स के ***'दी जर्मन आइडियोलोजी'*** के प्रथम प्रारूप से उद्धृत कर रहा हूँ— 'उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया—जो कि स्वयं जीवन के भौतिक उत्पादन से प्रारम्भ होती है—को प्रतिपादित करने पर निर्भर करती है तथा उत्पादन की इस रीति से सर्जित अन्तर्सम्बन्धों को समझने पर निर्भर करती है। यानि कि समाज की विभिन्न अवस्थाओं को इतिहास का आधार समझने पर राज्य का इसका कार्यरूप वर्णित करने पर और इसे भी व्याख्यायित करने पर निर्भर करती है कि कैसे तमाम सैद्धान्तिक उत्पाद तथा चेतना के विविध रूप जैसे धर्म, दर्शन, नीति आदि इससे उत्पन्न होते हैं तथा इन सबके निर्माण की प्रक्रिया को इनके आधार से ही खोज निकालने पर निर्भर करती है जिससे कि सब को संपूर्णता में ग्रहण कर पाना संभव हो सके (साथ ही इन सब पक्षों की एक दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया को समझना भी संभव हो सके)" (कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, ***कलेक्टेड वर्क्स,*** खण्ड 5, पृ. 33) ।

यहां हम इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का लगभग वही रूप पाते हैं जिस रूप में मार्क्स व एंगेल्स उसे अपने शेष जीवन में मानते रहे। इस व्याख्या ने जिसे मार्क्स ने 1840 में जर्मन दार्शनिकों तथा विचारकों के साथ हुए वाद-विवाद के दौरान निरूपित किया। इतिहास विज्ञान पर डायनामाइट के आवेश की भांति काम किया ऐसा इसलिए नहीं कि इसने स्वयं को इतिहास की जगह प्रतिस्थापित किया। बल्कि इसके विपरीत इसलिये कि इसने इतिहास के कार्य व लक्ष्य को वैज्ञानिक रूप में परिभाषित किया। मैं पुनः ***'दी जर्मन आइडियोलोजी'*** से उद्धृत करता हूँ :

"जहाँ चिन्तन समाप्त होता है वहां वास्तविक जीवन प्रारम्भ होता है और फलतः वास्तविक प्रत्यक्षवादी विज्ञान का, व्यावहारिक क्रिया-कलापों का, व्यक्तियों का, विकास की व्यावहारिक प्रक्रिया का प्रतिपादन प्रारम्भ होता है....जब यथार्थ का वर्णन किया जाता है एक स्वतः संपूर्ण दर्शन अपने अस्तित्व की अवस्था को खो देता है। अधिक से अधिक, कतिपय नितान्त सामान्य निष्कर्षों का सारांश या कुछ अपकर्षण जो मानवीय ऐतिहासिक विकास के बारे में प्रेक्षणों से व्युत्पन्न हों, ही इसका स्थान ले सकते हैं। ये आकर्षण अमूर्तिकरण जिनका यथार्थ इतिहास से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है स्वयं में कोई मूल्य नहीं रखते। अपकर्षण तो ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित करने में तथा उसके विभिन्न स्तरों के क्रम को व्यवस्थित करने में मदद कर सकते हैं लेकिन दर्शन की भांति, ये किसी वैचारिक योजना में सफ़ाई से कतर-ब्योंत नहीं करते कि इतिहास के युगों को आकार दे सकें। (कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, वही—., पृ. 37) पुनश्च, 'प्रत्येक मामले में रहस्यमयता और चिन्तन के, सामाजिक राजनैतिक संस्थाओं और उत्पादन' के मध्य संबंध को दर्शाना चाहिए।"

कुछ भी हो, इस "यथार्थ इतिहास" में मार्क्स की रुचि आकस्मिक थी और वह स्वयं 'सामान्य निष्कर्षों का सारांश वह अमूर्तिकरण जो मानवीय ऐतिहासिक विकास के प्रेक्षणों से व्युत्पन्न हो', को बहुत ही कम शब्दों में अभिव्यक्ति देता है जैसे ***'क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी'*** की प्रसिद्ध भूमिका में; यद्यपि ***ग्रन्टरिस*** में मार्क्स ने ऐसी समस्याओं पर कुछ अधिक विस्तार से चिन्तन किया। यहां तक कि उसकी प्रमुख कृति ***'दास कैपिटल'*** को भी ठीक ठीक कहें तो पूंजीवादी विकास के इतिहास के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता। यह उसका लक्ष्य ही नहीं था इसीलिए मार्क्स की कृतियों में हम यह पाते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ स्पष्ट रूप में छूट गया है। जिसकी बाद के मार्क्सवादी इतिहासज्ञों ने पूर्ति करने का प्रयास किया है। उदाहरणतः मार्क्स में हम पश्चिम में सामन्तवाद से पूंजीवाद की ऐतिहासिक यात्रा का

ठोस व सुसंगत विश्लेषण नहीं पाते। मार्क्स ने इतिहास का उपयोग किया किन्तु इतिहासकार की भांति नहीं।

उसकी रुचि अतीत में ही नहीं बल्कि मानवीय विकास की उस सम्पूर्ण प्रक्रिया में रही जिसने भविष्य को पूर्वांकित किया। इसी वजह से उसने उन्नत पूंजीवाद-उत्पादन के सर्वाधिक विकसित तथा जटिल ऐतिहासिक व्यवस्था के रूप में बुर्जुआ समाज (का पूंजीवाद)—विश्लेषण का केन्द्र बनाया। इस प्रकार पहले के समाज उसके विश्लेषण में पूर्व अवस्थाओं के रूप में प्रविष्ट होते हैं, "मनुष्य की शरीर रचना किसी वानर की शरीर रचना को समझने के लिए कुंजी है।" पूंजीवादी समाजों के पहले के समाजों को केवल पूंजीवाद के विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है। मार्क्स की इस विश्लेषणात्मक दिशा से, जिसे मार्क्स ने ग्रन्टरिस की भूमिका में विस्तार देने का प्रयास किया, कुछ प्रमुख पद्धति विषयक प्रश्न उठते हैं जिनका आज तक भी स्पष्ट समाधान नहीं किया गया है। मैं इसकी चर्चा केवल इस बात पर जोर देने के लिए कर रहा हूँ कि मार्क्स को बावजूद उसकी ऐतिहासिक विद्वता के तथा उसके गहन ऐतिहासिक सिद्धान्त के, इतिहास के आचार्य के रूप में ही नहीं देखा जा सकता।

इसलिये मार्क्स और इतिहास के मध्य संबंध बिल्कुल सरल नहीं है। दलों, आन्दोलनों और राज्यों की विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद एवं सम्बन्धित वाद-विवाद की एक शताब्दी के बावजूद भी उन्हें स्पष्ट रूप में देखना आज भी सरल नहीं है। एक उदाहरण लें। यह निश्चित है कि श्रमिक वर्ग, श्रमिक आन्दोलन और अधिक सामान्य रूप में जन साधारण के इतिहास को समझने में मार्क्सवादियों की विपुल देन और संभवतः निर्णायक भूमिका रही है जो पुराने अकादमी इतिहासज्ञों द्वारा उपेक्षित रहा किन्तु इन प्रश्नों का इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से नहीं के बराबर संबंध है। मार्क्सवादी इतिहासज्ञों की जो राजनैतिक रूप से वामपंथी हैं, इन विषयों में रुचि और विशेष सहानुभूति स्वाभाविक है किन्तु इन विषयों में गैर-मार्क्सवादियों की भी बराबर रूप से रुचि हो सकती है। सचमुच ऐसा है भी, इसीलिए इस प्रकार के विषय लोकवादी तथा सैद्धान्तिक रूप से अस्पष्ट, वामपंथ वर्ग में भी उतने ही लोकप्रिय है, जितने कि मार्क्सवादियों में यह तथ्य कि आज पहले की तुलना में उपद्रवों तथा विद्रोहियों के बारे में ज्यादा पढ़ा जाता है, निस्सन्देह मार्क्सवादी इतिहासज्ञों के प्रभाव के फलस्वरूप है जिन्होंने इन घटनाओं को विचार-विमर्श का केन्द्र बना दिया है। किन्तु उनके लेखन में जो कुछ मार्क्सवादी (तत्त्व) है वह यह तथ्य नहीं है कि उन्होंने स्पार्टकस या जूलियस सीजर के बारे में

लिखा है या नहीं बल्कि यह कि वे स्पार्टेकस या जूलियस सीजर ***दोनों*** के बारे में ***कैसे*** लिखते हैं ?

मैं विमर्श के लिए कुछ स्थापनाएं प्रस्तुत करूँ ताकि मार्क्स का इतिहास विज्ञान पर प्रभाव स्पष्ट हो सके।

प्रथमतः यह प्रभाव तीन तरह से अनुभूत हुआ है : मार्क्सवादी इतिहासज्ञों के जरिये जो सदैव अल्पसंख्यक रहे हैं (सिवाय समाजवादी देशों तथा हाल के दशकों में तथाकथित तीसरी दुनियां के बड़े भागों के), उन मार्क्सवाद विरोधी इतिहासज्ञों के जरिये जो इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के प्रश्नों को अंशतः स्वीकार करते हुए उनके भिन्न उत्तर प्रस्तुत करते हैं (ऐसा एक दृष्टव्य उदाहरण मेक्स वेबर का होगा) और अन्त में उन इतिहासज्ञों के द्वारा—जो संख्या में बढ़ते जा रहे हैं, जो कभी मार्क्सवादी रहे हैं और किसी न किसी रूप में अपने मार्क्सवादी अतीत की वजह से पहचाने जाते रहे हैं। वास्तव में जब भी इतिहास में एक नया प्रश्न खड़ा होता है हम स्वयं इतिहास ही को नये सिरे से देखते हैं, चाहे हम उस प्रश्न के किसी भी समाधान पर पहुचें। उदाहरणतः फ्रांस तथा इंग्लैंड में इन दिनों क्रमशः उन देशों के बुर्जआ आन्दोलनों की मार्क्सवादी व्याख्याओं के प्रति दूसरे शब्दों में, क्रिस्टोफर हिल तथा एल्बर्ट सोबूल के प्रति तीखी प्रतिक्रिया दिखाई देती है जो हालांकि कुछ समय पूर्व तक ही इन देशों में ऐतिहासिक अनुसंधान का मुख्य विषय बनी रही फिर भी, जो कुछ भी है वह इन आन्दोलनों के मार्क्सवादियों के पूर्व की इतिहास की अवस्था की ओर प्रतिगमन नहीं है बल्कि मार्क्सवादी स्थापनाओं की समीक्षा है अथवा इन स्थापनाओं का विकसित या परिवर्तित रूप है। मार्क्सवादियों से पहले का अतीत मर चुका है जिसका पुनर्जीवन संभव नहीं है।

अंत में, मार्क्सवादियों तथा गैर–मार्क्सवादियों के बीच विवाद को दर–किनार कर दें तो भी यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी मूल के कई तत्त्व सामान्य इतिहास में इस तरह प्रविष्ठ हो गए हैं कि उन्होंने इतिहास में आमूल परिवर्तन कर दिया है। केवल दो उदाहरण लें : वर्गों की भूमिका— चाहे हम उसका कैसे भी मूल्यांकन करें— तथा विचारों के सामाजिक मूल अर्थात् आधार तथा आधेय की समस्याएं। आज प्रोटेस्टेंट सुधारों को केवल विचारों या धर्म के इतिहास के रूप में देख पाना अचिन्त्य लगता है। कोई निश्चय ही यह तर्क कर सकता है कि यह रूप परिवर्तन अनिवार्यतः मार्क्सवादी नहीं है, मार्क्सवाद तो उन तमाम घटकों में से एक है, यद्यपि वह एक निर्णायक घटक है जिन्होंने इतिहास में आर्थिक एवं सामाजिक तत्त्वों के बढ़ते हुए प्रभावों को बढ़ाया है। यह 1914 के पहले से ही स्पष्ट था और इसके

विपरीत आज सरलीकृत आर्थिक, नियतवाद, मार्क्सवादियों की अपेक्षा कुछ बुर्जुआ इतिहासज्ञों से कहीं अधिक जुड़ा है तथापि मार्क्सवादियों की विशिष्ट देन अविवाद्य है। उदाहरणतः यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि ***एनेल्स*** के फ्रांसीसी स्कूल के प्रतिनिधि विचारक फर्नान्द ब्रोदिल ने जिनकी शुरु में मार्क्स में बहुत कम रुचि रही, मार्क्सवाद के प्रमुख विचार पूंजीवाद के विकास पर चिन्तन किया और वे आज कुछ मार्क्सवादी विचारकों यथा इमानुअल वालरस्टाइन के मत के प्रति अधिक खुला दृष्टिकोण अपनाए हुए हैं।

मेरी ***दूसरी*** स्थापना यह है कि मार्क्स ने स्वयं इतिहास–विज्ञान को तीन तरह से प्रभावित किया। प्रथमतः, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के द्वारा जिसका सारांश इस वाक्य में प्रस्तुत किया जा सकता है कि "व्यक्तियों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।" दूसरे, समाज के विकास को समझने के लिए प्रस्तुत उनके इस मॉडल के द्वारा कि समाज की विभिन्न संरचनाओं का क्रम इसके उत्पादन से निर्धारित होता हुआ अंततः पूंजीवाद में विकसित हो गया या फिर यह समाप्त हो गया। अंत में, अतीत की, या सामान्य रूप से समाज की विभिन्न वास्तविक समस्याओं के बारे में मार्क्स के लेखन में प्राप्त टिप्पणियों ने भी इतिहास–विज्ञान को प्रभावित किया है। मार्क्स से मिली विचारोत्तेजनाओं की यह बहुलता स्वाभाविक रूप से ही न केवल उपयोगी है अपितु हानिकारक भी है। यह मार्क्स व एंगेल्स के कतिपय विचारों के बारे में बहुत लम्बे और बहुधा समय व्यर्थ करने वाले ऐसे निरर्थक विवादों की ओर ले गई है जिनका इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। उदाहरणतः हम इस प्रश्न का 'हां' या 'ना' दोनों ही में उत्तर दे सकते हैं कि उत्पादन का क्या एक ही रूप है या इसका कोई एशियाई रूप भी है। दोनों ही उत्तर इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के साथ सुसंगत ठहरते हैं।

मार्क्स से प्राप्त विचारोत्तेजनाओं की बहुलता मुझे अपनी ***तीसरी*** स्थापना की ओर ले जाती है कि पिछले सौ वर्षों में मार्क्सवादी और अन्य विचारक अपनी रुचियों तथा अपने काल की समस्याओं के अनुसार मार्क्स से आन्दोलित हुए हैं। प्रत्येक पीढ़ी न केवल मार्क्स को खोजती है अपितु वह अपने अपने मार्क्स को खोजती है। इस वजह से न केवल यह हुआ कि अलग अलग समय पर मार्क्स की भिन्न भिन्न कृतियां विवाद का केन्द्र बनी जैसा कि ***"द एटीन्थ ब्रूमेयर"*** के साथ हुआ, जिसका सैकेन्ड इन्टरनेशनल के दौरान ऐतिहासिक भौतिकवाद पर होने वाले विवादों में शायद ही जिक्र हुआ हो, बल्कि यह भी कि मार्क्सवाद के भिन्न भिन्न पक्षों पर बल दिया गया।

मार्क्स के प्रथम ऐतिहासिक परिचय के दौरान इस पक्ष पर बल दिया गया कि आधेय अथवा समाज की अधिरचना, आर्थिक आधार पर ही निर्भर रहती है। (शायद इसे आज भी ध्यान में रखा जाना चाहिए)। बाद में, उदाहरणतः जब इसमें संदेह करना संभव नहीं रहा कि अंग्रेजी क्रांति को ***केवल*** प्यूरिटन विचारधारा के माध्यम से ही नहीं समझा जा सकता। मार्क्सवादियों ने ही इस ओर, हमारा ध्यान आकृष्ट किया कि यह विचारधारा न केवल सामाजिक परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब थी बल्कि इतिहास में एक स्वायत्त घटक थी। उदाहरण के लिए वर्तमान में अनेक मार्क्सवादी इतिहासज्ञों का ध्यान, जिसके कारण स्पष्ट हैं, राज्य की स्वायत्त भूमिका पर विशेष रूप से केन्द्रित प्रतीत होता है।

समकालीन इतिहास–विज्ञान पर मार्क्स का यथार्थ में क्या प्रभाव रहा है ? जैसा कि इग्गर्स कहता है कि "मार्क्सवादी विचारकों के असाधारण रूप में विविध ऐतिहासिक एवं समाज शास्त्रीय योगदान से मार्क्सवादी वैज्ञानिक उत्पादन के बारे में सामान्य अभिमतों को (अधिकृत नहीं करते)।" तथापि कुछ उन क्षेत्रों को अलग से देखा जा सकता है जहां मार्क्स का प्रभाव विशेष तौर पर स्पष्ट है। इनमें से कुछ हैं गैर–यूरोपीय समाजों, विशिष्टतया प्राच्य शास्त्रीय पुरातनकाल का इतिहास, एक ऐसा विषय क्षेत्र जिसने प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों को असाधारण रूप से आकृष्ट किया है। इनमें समकालीन मार्क्सवादी लेखकों में से मोजेज़ फिनले, ज्यां पियरे वेरना और हाल में जे. सेन्त क्रोआ के नाम ध्यान में आते हैं। और इन्हीं में इसके दास प्रथा का सामान्य इतिहास भी आता है। मार्क्स का प्रभाव सामाजिक इतिहास में विशेष रूप से लक्षित होता है जो इन दशकों में बहुत पनपा है। प्राक्–इतिहास अर्थात् वर्ग, समाजों व राज्य के उद्भव का इतिहास हाल ही में बहुत विकसित हुआ है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस विषय पर चिन्तन करते हुए विचारक मार्क्स के बारे में सोचें जिसकी इन विषयों में गहन रुचि रही। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि आर्थिक इतिहास में मार्क्स का प्रभाव विशेष तौर पर स्पष्ट दिखाई देता है, ऐसा इसलिये कि शास्त्रीय राजनैतिक अर्थ व्यवस्था की समाप्ति के पश्चात् अकादमीय अर्थशास्त्र ने आर्थिक विकास की समस्या के प्रति लंबे समय तक उदासीनता दिखाई। और वह भी ऐसे नियमित रूप में कि व्यवहार में उसके उपचार को उन्होंने उन विचारकों पर छोड़ दिया जिन्होंने उन प्रश्नों के महत्व को स्वीकार किया जिनमें मार्क्स व्यस्त था।

यहां तक कि 1969 में नोबेल पुरस्कार विजेता सर जॉन हिक्स ने, जिनके बारे में यह संदेह नहीं हो सकता कि उनकी मार्क्सवादी सहानुभूति है, ***'थ्योरी ऑफ***

इकॉनोमिक हिस्ट्री' में लिखा है कि— "चूँकि मार्क्सवादी वर्गणाओं की विभिन्न रूपों में लागू किए जाने की तुलना में अन्य वैकल्पिक रूपों की उपलब्धता नहीं के बराबर है", इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि वे कई विचारक जिन्होंने इतिहास की सामग्री को समाज विज्ञानों की मदद से इस मामले में अर्थशास्त्रीय विज्ञान से व्यवस्थित करने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा, इन वर्गणाओं की ओर उन्मुख हुए। फिर भी हम सर जॉन हिक्स से कम आश्चर्यचकित हैं कि ***"दास कैपीटल"*** के सौ वर्षों बाद, एक शताब्दी के बाद, जिसके बीच समाज विज्ञानों में विपुल विकास हुआ है, कुछ भी अन्य सामने नहीं आ पाया है।

एक विशिष्ट उदाहरण इतिहास-शास्त्र के लेखन की सामान्य दिशा पर मार्क्सवादी प्रभाव को निदर्शित करता है और वह है सत्रहवीं शताब्दी की संक्रान्ति। 1930 के मध्य और 1940 के अंतिम वर्षों में मध्ययुगवादियों ने यह स्वीकार किया कि उच्च मध्ययुग के आर्थिक विकास के बाद चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी में आर्थिक एवं जनसांख्यिकी प्रत्यावर्तन हुआ जिससे यह धारणा पुष्ट होती है कि पाश्चात्य पूंजीवादी विकास सरल रेखीयता को नहीं दर्शाता। 1930 में पूंजीवाद पर आए गहरे संकट ने मंदी की घटना के ऐतिहासिक बोध को तीक्ष्ण करने में सहायता की। मॉरिस डॉब पहला विचारक था जिसने ***'स्टडीज इन दी डेवलपमेंट ऑफ कैपिटलिज्म'*** में 'सामन्तवाद के इस संकट' को सामंतवाद से पूंजीवाद के संक्रमण की मार्क्सवादी स्कीम में व्यवस्थित रूप से समाकलित किया, इससे मार्क्सवादियों के बीच एक जीवन्त बहस का प्रारम्भ हुआ। इस बहस का एक उपफल यह विचार था कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के विस्तार के पश्चात् भी ऐसा ही प्रत्यावर्तन दिखाई देता है। सत्रहवीं शताब्दी की संक्रांति पर काबू पाने के पश्चात् ही (कुछ अंशों में अंग्रेजी क्रान्ति के फलस्वरूप) औद्योगिक क्रान्ति की तरफ अनवरुद्ध गति संभव हो सकी। यद्यपि मंदी की घटना की ओर कुछ इतिहासकारों, विशेषकर फ्रांस में, का ध्यान गया। फिर भी यह दावा करना न्यायसंगत होगा कि यह ध्वनि कि यूरोपीय और संभवतः विश्व इतिहास को सत्रहवीं शताब्दी की संक्रान्ति के प्रकाश में पुनः लिखा जाना चाहिए मुख्यतया मार्क्सवादियों के बीच बहस में उभरा तथा मार्क्सवादियों की प्रेरणा के द्वारा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास-लेखन में प्रविष्ठ हो सका। वास्तव में, इस प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बहस एक जर्नल में प्रारम्भ हुई जिसकी शुरुआत कुछ युवा मार्क्सवादियों ने की जिसे उस समय गलती से मार्क्सवादी मुखपत्र के रूप में देखा गया।

मैं इस मत की मूल्यवत्ता—जो कि विवादास्पद बनी हुई है—पर जोर नहीं देना चाहता; अपितु उस असाधारण गति पर जोर देना चाहता हूं जिससे इसने

ऐतिहासिक जगत पर अपना चिह्न अंकित किया। इसने तत्काल एक प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय बहस की शुरूआत की जो आज भी जारी है और जिसका कई पुस्तकों में अवलोकन किया जा चुका है। क्या हम सचमुच ही सत्रहवीं शताब्दी की संक्रान्ति की बात कर सकते हैं ? इस प्रश्न पर अभी भी बहस चल रही है। यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि आर्थिक इतिहासज्ञों ने सामान्य तौर पर इस विचार को मान लिया है कि यदि ऐसा संकट रहा भी तो इसका फैलाव कहां तक था। इसे मैक्सिको तथा चीन तक विस्तार किए जाने के प्रयास किए गए हैं। क्या इस संकट की मार्क्सवादी व्याख्या को सामान्यतया मान लिया गया है ? ऐसा बिल्कुल नहीं है। किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि मार्क्सवादी प्रेरणाओं ने सत्रहवीं शताब्दी पर हुए ऐतिहासिक अध्ययनों को गहन रूप में संशोधित किया है। इसने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को अनिवार्यतः अधिक विश्वास योग्य नहीं ठहराया है। (प्रसंगवश कहूँ कि ऐसे मार्क्सवादी इतिहासविद् भी हैं, खास तौर से यू.एस.एस.आर. में, जो सत्रहवीं शताब्दी की संक्रान्ति के बारे में संदेह रखते हैं)। किन्तु जहां तक सत्रहवीं शताब्दी की किसी ऐसे संजीदा इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि संक्रांति के प्रश्न को नहीं सुलझाता, उस हद तक मार्क्सवादी प्रभाव की शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मैं दो कारणों से यह उदाहरण दे रहा हूँ— प्रथमतः यह मार्क्स के विचारों से प्रेरित इतिहासज्ञों की नये प्रश्न करने या उन्हें नये सिरे से प्रस्तुत करने की क्षमता का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि सत्रहवीं शताब्दी की संक्रांति पर बहस से सिद्ध हुआ कि इनके द्वारा उठाई गई समस्याओं को ***तत्काल*** ही वृहत्तर ऐतिहासिक जगत में महत्वपूर्ण समझ लिया जाता है भले ही उनके मार्क्सवादी समाधानों को स्वीकार या अस्वीकार किया गया हो। दूसरे यह उदाहरण बताता है कि मार्क्स के विचारों को मार्क्सवादी इतिहास किस प्रकार लागू करते हैं और यह भी समस्या उठाता है कि मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी इतिहास–विज्ञान के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा कहां तक संभव है या कि वांछनीय है।

क्योंकि तथ्यतः मार्क्स एवं एंगेल्स की कृतियों में ऐसे अनेक ठोस ऐतिहासिक अभिमत हैं जो आज भी ऐतिहासिक शोध और विमर्श के लिए प्रेरित करते हैं— उदाहरणतः ***जर्मन आइडियोलोजी*** में प्रस्तुत की गई यह स्थापना कि पूंजीवादी विश्व बाजार सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। किन्तु मानक कृतियों में सत्रहवीं शताब्दी की संक्रांति का कोई जिक्र नहीं है। यह विचार तो मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा किए गए, मार्क्स के पूंजीवाद के उद्भव के विचार को सामंतवाद से पूंजीवाद तक के

संक्रमण के ***इतिहास*** के रूप में देखे जाने के प्रयास के दौरान सामने आया— ऐसा इतिहास जिसे मार्क्स ने स्वयं नहीं लिखा और जिसके कारणों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। संक्षेप में कहें तो यह विचार इसलिए नहीं उपजा कि मार्क्सवादियों को मार्क्स के लेखन को आलोचनाओं से बचाना था या कि उसे नई व्याख्या देते हुए उसका समर्थन करना था, बल्कि यह तो मार्क्स के विचारों को मार्क्स की अपनी कृतियों से आगे तक बढ़ा देने के प्रयास से उपजा। इसका अर्थ यह नहीं है कि मार्क्सवादी इतिहासविद् मार्क्स के विचारों में संशोधन करना चाहेगा तथापि कोई भी जिम्मेदार मार्क्सवादी इतिहासविद् मार्क्स द्वारा किए गए उन ऐतिहासिक कथनों से असहमति व्यक्त करने में भी हिचकिचाहट नहीं महसूस करेगा जिन्हें बाद के शोध ने अमान्य सिद्ध कर दिया है। इसका सादा-सा अर्थ यह है कि जीवन्त मार्क्सवाद वहां से प्रारम्भ होता है जहां मार्क्स के उद्धरण पर्याप्त नहीं लगते। महान विचारक केवल इसलिये जीवित नहीं रहते कि उन्हें पढ़ा जाता है और उद्धृत किया जाता है और न कि हर पीढ़ी उनकी कृतियों पर अपना अभिमत देती है और उन्हें नये सिरे से व्याख्यायित करती है अपितु इससे भी बढ़कर कहीं इस रूप में कि उनके द्वारा उठाए गए प्रश्नों का महत्व बना रहता है और उनके सिद्धान्त व पद्धतियां भविष्य में शोध के लिए रूपरेखा प्रदान करती हैं। मार्क्सवाद शोध का विषय बना हुआ है इस अर्थ में मार्क्स आज विज्ञान के लिए जीवित है, एक ऐसे रूप में जिसमें कोई समकालीन अन्य जीवित नहीं, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य महान चार्ल्स डार्विन को छोड़कर।

स्वाभाविक है कि मार्क्स द्वारा उठाए गए प्रश्नों के विभिन्न समाधान दिए जा सकते हैं किन्तु समाधानों की विविधता अपने आप में गैर-मार्क्सवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन को विभाजित नहीं करती। सत्रहवीं शताब्दी की संक्रांति के प्रश्न पर हुई बहस में मार्क्सवादी या गैर-मार्क्सवादी कोई भी आपस में एकमत नहीं है और कुछ बिन्दुओं पर दोनों पक्षों का एक मोर्चा दूसरी ओर दोनों पक्षों के दूसरे संयुक्त मोर्चे के विरोध में आ खड़ा हुआ है। किसी भी वैज्ञानिक बहस की इतिहास में या अन्यत्र तीन विशेषताएं होती हैं। यद्यपि उसे विचारधारा से पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु वह ***मात्र*** विचारधारात्मक ही नहीं है। सिद्धांततः इसमें सार्वभौमिक ग्राह्यता होती है और वह उन शोध की पद्धति व कसौटियों से नियंत्रित रहती है जिन्हें सार्वभौमिक स्वीकृति मिली होती है। ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो ***केवल*** सर्वहारा, बुर्जुआ, जर्मन, अश्वेत या नारी आन्दोलन सम्बन्धी हो अर्थात् ऐसा कोई विज्ञान नहीं होता जो ऐसे किसी दल की पहुंच में ही हो अथवा केवल उसके सदस्यों के लिए विश्वास योग्य हो। तीसरे वैज्ञानिक बहस कभी भी निर्णायक रूप से समाप्त नहीं होती क्योंकि प्रत्येक समस्या का समाधान नई एवं अनुत्तरित समस्याओं को जन्म देता है। जहां बहस निर्णायक रूप

से समाप्त हो जाती है विज्ञान का अंत हो जाता है। इसीलिए मार्क्स, गैर–मार्क्सवादियों को भी प्रभावित कर सकता है और उसने किया भी है। दोनों ही किसी वस्तुगत अस्तित्ववान यथार्थ से ही संबंध रखते हैं, यद्यपि वह यथार्थ, सम्प्र के समकालीन वैचारिक–तंत्र और विचार के प्रारूपों के द्वारा या कि भिन्न भिन्न विचारधाराओं की दृष्टि के द्वारा ही दृष्टिगत होता है।

इस सबके बावजूद इतिहास की मार्क्सवादी अवधारणा में और गैर–मार्क्सवादी अवधारणा के बीच विवाद की काफी गुंजाइश बची रहती है और स्पष्ट ही, राजनैतिक प्रतिक्रियावादी विचारों के खिलाफ संघर्ष के लिए भी चाहें उन्हें एकेडेमिक या वैज्ञानिक जामा पहना कर ही बहस की जाय। हममें से कुछ लोग इस तरह की बहसों और लड़ाइयों में काफी समय से जुटे हुए हैं। ऐसा हो सकता है, और ऐसा होते रहने चाहिए। मैं इसमें संदेह भी नहीं करता— एक मार्क्सवादी होने के नाते कर भी नहीं सका— कि इतिहास–विज्ञान में मार्क्सवाद के प्रवेश का प्रमुख आवेग राजनैतिक था। लगभग तमाम बुद्धिजीवी जो मार्क्सवादी बन गए और इसलिए इतिहासज्ञ के रूप में मार्क्सवादी इतिहासज्ञ बन गए, वह इसलिए कि शुरू में उनकी राजनैतिक प्रतिबद्धता ने उन्हें उस लक्ष्य की ओर आकृष्ट किया जिस लक्ष्य को मार्क्स के साथ जोड़ा जाता रहा है। मार्क्सवाद के इतिहास और बौद्धिक प्रभाव को समझने का प्रस्थान बिन्दु, आम समाजवादी आंदोलन और बुद्धिजीवियों के राजनीतिकरण का इतिहास है। लेकिन चूंकि मार्क्सवाद ***केवल*** विचारधारा या राजनैतिक पहचान ही नहीं है, हमें इस प्रस्थान बिन्दु से आगे जाना होगा। मार्क्सवाद के प्रभाव को उन इतिहासज्ञों की संख्या से नहीं आंका जा सकता जो स्वयं को मार्क्सवादी कहते हैं, न ही इससे कि कितने लोग उन व्याख्याओं को स्वीकार करते हैं जिन्हें कि मार्क्सवाद के नाम से प्रस्तुत किया जाता है। इसे तथ्य से आंका जाता है कि आज यह जानना तब तक बहुधा मुश्किल होता है कि अमुक पुस्तक मार्क्सवादी ने लिखी है या गैर–मार्क्सवादी ने, जब तक कि वह लेखक स्वयं अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को व्यक्त नहीं कर देता।

शायद कोई ऐसा दिन आये जब इतिहासज्ञ इस भेद के विषय में चिन्ता करना छोड़ देगा। व्यवहार में तो हम ऐसी आदर्श स्थिति से काफी दूर हैं और इस शताब्दी के वर्ग–संघर्ष, राजनैतिक और वैचारिक मतभेदों को देखते हुए दूर ही बने रहेंगे, कम–से–कम उस भविष्य तक में, जहां तक हमारी दृष्टि की पहुंच है।

6

साहित्य के बहुपठन और एकल विज्ञान *

ज्याँ-क्लोद गार्दे

इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि साहित्यिक कृतियां अथवा टैक्स्ट जैसा कि आजकल हम कहते हैं बहुपठन का अवसर प्रदान करती हैं : संग्रह के शीर्षक के अनुरूप इस अंक में संकलित अध्ययन इसका एक और प्रमाण है। शेक्सपीयर और मौन्टेन पर अब तक लाखों पृष्ठ लिखे जा चुके हैं किन्तु वे हमें उन पृष्ठों से प्राप्त होने वाले आनन्द में कोई बाधा नहीं पहुँचाते जो यहां प्रस्तुत किये गये हैं। यह विचार भी किसी के मन में उत्पन्न नहीं होगा कि पुनः लेखन की इस प्रक्रिया का कभी अन्त भी हो सकता है सिवाय इसके कि कभी अकस्मात् लिखित सभी मानवीय बातें समाप्त हो जायें।

जहाँ तक लेखक और पाठक इस अभ्यास की प्रकृति को समझते हैं वहां तक इसमें कोई बुराई भी नहीं है : लेखकों का कार्य साहित्यिक कार्यों की अभी तक अनुद्घाटित प्रतिध्वनियों को व्यक्त करना है जबकि पाठकों से यह अपेक्षित है कि वे इन व्याख्याओं में पर्याप्त रुचि लें ताकि इनकी यहाँ और अब सफलता किसी न किसी रूप में सुनिश्चित हो सके।

यहां और अब : साहित्यिक कृति अथवा टैक्स्ट के संभावित रूपान्तरणों को अनन्तता के साथ-साथ उनमें से प्रत्येक का काल व दिक् के क्रम में किसी एक की स्मृति में स्थाई रूप से होने को वांछनीय मानना विरोधाभासी होगा। कोई भी व्यक्ति

---

* Jean-claude Gardin : Plural Readings and Singular Sciences of Literature, ***Diogenes;*** No. 118, 1982, pp. 1-11.
अनुवाद : श्रीमती उमा भार्गव

शेक्सपियर के नाटकों पर तीन शताब्दियों में दर्जनों देशों और भाषाओं में प्रकाशित असंख्य टीकाओं के सकल ज्ञान का दावा नहीं कर सकता; और यह भी अनिवार्य नहीं कि इस संदर्भ में सर्वाधिक जानकार विशेषज्ञ सामग्री को नयी दृष्टि से परिकल्पित करने के सर्वाधिक उपयुक्त अथवा इच्छुक हों। इसके विपरीत पठनों के ऐसे दृष्टांत भी मौजूद हैं जो अपने समय में उन टीकाकारों के कारण विशेष रूप से विख्यात हुए जिनकी विद्वत्तता मुख्य गुण नहीं था।

ये सामान्य बातें हैं और इन्हें दोहराने की आवश्यकता भी नहीं होनी चाहिये थी यदि हाल ही की एक घटना ने उन आधारभूत सत्यों पर प्रश्न चिह्न नहीं लगा दिया होता जिनके प्रति हम सबकी मौन स्वीकृति थी। मेरा संकेत साहित्यिक कृतियों अथवा टैक्स्ट के विज्ञान के उद्‌भव की ओर है जिसे इस या अन्य नामों द्वारा पुकारा जाता है और जिसे आलोचना की परम्परागत कला अथवा कृतियों की संरचनाओं से अधिक विश्वसनीय माना गया है। यह घटना इतनी सुपरिचित है कि बिना किसी क्रम अथवा नियम के उसकी अधिक सशक्त अभिव्यक्तियों में से कुछ का स्मरण करना ही पर्याप्त है : संरचनात्मक विश्लेषण, जो समस्त प्रकार की रचनाओं, साहित्यिक, पौराणिक अथवा आख्यानों के लिए प्रयुक्त हुआ; भाषा विश्लेषण जिसे बहुत समय तक मानवीय विज्ञानों में अपरित्याज्य मॉडल के रूप में माना गया; संकेत विज्ञानीय विश्लेषण, देशों, संप्रदायों या कालावधियों के अनुसार इसके समस्त रूपों को समाहित करते हुए; टैक्स्ट–व्याकरण अथवा टैक्स्ट–विश्लेषण जो संभवतः केवल एक दूसरा नाम है जो कृतियां अथवा टैक्स्ट कहे जाने वाले समस्त अमूर्त विषयों के सार्वभौमिक विज्ञान की परियोजना को दिया गया है,[1] आदि, आदि।

विगत बीस वर्षों में इस या उस संप्रदाय के प्रतीक के अन्तर्गत किए गये कार्य अगणित हैं। इस अतिशयता से प्रत्येक संप्रदाय के वास्तविक प्रभेदक को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती, विशेष रूप से तब जबकि विश्लेषण की प्रकारता विशेषज्ञों के अनुसार बदलती रहती है। इसके अतिरिक्त, उन व्याख्यात्मक अभ्यासों के संदर्भ में किसी विश्लेषण–विधि की बात करना भी अनुपयुक्त होगा जो शुद्ध–तर्क–बुद्धि से भिन्न तरीकों के अनुसार किए गए हैं, चाहे फिर फलस्वरूप होने वाले विमर्श में अन्य कोई भी अच्छाइयां क्यों न हों। तथापि मुझे ऐसा लगता है कि अत्यधिक उलझन वाला प्रश्न वह नहीं है; परिवर्तनशीलता और संदिग्धता, जैसा कि कुछ का दावा है उस वैचारिक आंदोलन के संभावित लक्षण मात्र हों जो अभी परिपक्व नहीं हुआ है। जिस विमर्श को मैं आरम्भ करना चाहूँगा उसका संबंध

अपेक्षाकृत साहित्यिक कृतियों या टैक्स्टों के विज्ञान की परियोजना से है, इसका उल्लेख आंदोलन के विभिन्न घोषणा-पत्रों में भी व्यक्त रूप से हुआ है।

सबसे पहले हम वैज्ञानिकता की सामान्य आकांक्षा—या कम से कम साहित्यिक कृतियों की परम्परागत टीकाओं में निहित वैज्ञानिकता से उच्चतर वैज्ञानिकता की आकांक्षा पर बल दें। "नवीन" समालोचना अथवा साहित्य के पठन की नवीन विधि के पक्षधर प्रायः ही इस उद्देश्य की ओर इंगित करते हैं; अन्य जो अधिक विनम्रित हैं साहित्यिक रचना के अधिक परिष्कृत या अधिक जानकारी युक्त दृष्टिकोण से संबंधित कुछ सिद्धान्तों की घोषणा में ही संतुष्ट हैं, उत्कृष्टता के इस दावे में शुद्ध साहित्यिक रचनाओं से संबंधित ज्ञान की प्रगति की ओर एक अव्यक्त निर्देश निहित है। किन्तु दोनों ही प्रकरणों में साहित्यिक अध्ययनों की असंदिग्ध रूप से उस नयी धारणा के प्रति मौन सहमति प्रतीत होती है जिससे शेक्सपियर अथवा मौन्टेन को पढ़ने में हमारी विधि अब और यहां अधिक वैज्ञानिक अथवा किसी रूप में हमारे पूर्वजों से 'बेहतर' हो जाएगी, इसका श्रेय उस विश्लेषणात्मक प्रणाली के प्रयोग को जाता है जिस तक पूर्वजों की पहुँच नहीं थी। इस प्रस्थापना से स्पष्ठतः एक अन्य प्रस्थापना निर्गमित होती है, यथा शेक्सपियर और मौन्टेन को पढ़ने की हमारी वर्तमान विधि यहां और अब अन्य उन विधियों द्वारा बहिष्कृत अथवा परिवर्तित कर दी जाएगी जो अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक और बेहतर होंगी— इस दृष्टि से उन्हें ऐसी विश्लेषण प्रणाली उपलब्ध होगी जो हमारे पास अभी नहीं है।

मूल कृतियों या टैक्स्टों के विज्ञान की इन दो पूर्व मान्यताओं, विशेष रूप से दूसरी, को सुव्यक्त करना उलझन विशेष को महसूस करने या उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। फिर भी चलिए हम साहित्यिक विज्ञान के अधिवक्ताओं के प्रति न्याय करें : उनमें से अधिकांश अपनी बात के इस प्रकार सरलीकृत प्रस्तुतिकरण को पसंद नहीं करेंगे, और उनका यह मानना ठीक भी होगा, और यह भी सत्य है कि पारस्परिक मतभेदों के बावजूद ये आधुनिक नये विज्ञान के प्रति अपनी आस्था को उस सीमा तक नहीं ले जाते कि ये पूर्वजों को जिज्ञासा के मामले में गलत अथवा दोषी ठहराएं। परन्तु इस विकल्प के प्रस्तुतिकरण की विधा एक ऐसी ज्ञान-मीमांसीय समस्या को जन्म देती है जिसे आसानी से निरस्त नहीं किया जा सकता है। जैसा कि हमने देखा नयी बात विश्लेषण की उन विधियों की ओर निर्देश है जो समालोचना अथवा मूल कृतियों के परम्परागत अन्वयन के अपेक्षाकृत शिथिल नियमों से अधिक रूपायित हैं। साहित्यिक कृति, टैक्स्ट कहे जाने वाले इस अमूर्त विषय का रूप ग्रहण कर लेती है जिसका तत्त्व अथवा अर्थ तभी ग्रहण किया जा सकता है जब वह

रूपान्तरणों की ऐसी प्रक्रिया से गुजरे जो ऐसे पुनः लेखन की क्रमिक संक्रियाएं हों जो विषय कृति (साहित्यिक कृति) से लक्षित कृति (उसकी टीका) तक ले जाये। ऐसी परियोजना की सापेक्षिक व्यर्थता और फलतः उसकी प्रतीयमान ग्राह्यता के पक्ष में अनेक प्रकार की उपमाएं मस्तिष्क में उठती हैं, क्या यह वही तरीका नहीं जिससे समस्त प्रकार के विषयों के विज्ञान का निर्माण हुआ है— विभिन्न नामों (वर्णन, अनुभव, चित्रण, प्राक्कल्पनाएं) के अन्तर्गत प्रारंभिक निरूपण से तात्कालिक अंतिम संरचनाओं (व्याख्याएं, प्रत्यय, स्पष्टीकरण, सिद्धान्त) तक, जो सदैव अंतरिम होता है? और क्यों न हम उस विश्लेषण की प्रक्रियाओं की विशिष्टता निर्धारित करने में रखी गई सावधानी को, जो एक को दूसरों से जोड़ता है उस बिन्दु तक जहाँ यह विश्लेषण दूसरों के द्वारा दोहराया जा सकता है, को अक्सर दोहराई जाने वाली 'कठोरता' की मांग से अधिक न समझें जिसे अन्ततः गम्भीरता से लिया गया है।

कठिनाइयां यहां से शुरू होती हैं; प्रथम तो यह कि अभी तक हमारे पास इस तरीके से किये गये कृति (टैक्स्ट) के विश्लेषण का एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है। इससे अधिक आश्चर्य का विषय यह है कि साहत्यिक रचनाओं— लिखित या मौखिक के विज्ञान के सर्वाधिक प्रसिद्ध विशेषज्ञ वे हैं जिनकी प्रणाली की पुनरावृत्ति वे स्वयं भले ही करें दूसरे तो नहीं करेंगे। बहुत पुरानी बात नहीं है, रोला बार्थ ने अनेक प्रकार के विषयों पर अपनी जिन अत्युत्तम टीकाओं से हमें अभिभूत किया था उनमें भी ऐसे नुस्खे नहीं थे जो किसी को उनका प्रतिद्वन्द्वी बनने की योग्यता प्रदान करते, जैसा कि, खेद है बरनियर और राम्बो के द्वारा लिखित **ले रोला बार्थ सौंपेयन** से सिद्ध होता है[2] — यह तो तब था जबकि शैक्षिक पाठ्यक्रमों जिनमें विश्लेषण की पद्धति का किसी भी नाम से (भाषाई, संरचनात्मक संकेत विज्ञान संबंधी) निर्देश के उल्लेख का अभाव नहीं था। इस ही प्रकार, उतनी ही सफलता से अन्य मिथिकों के विन्यास विश्लेषण के लिए लेवी स्ट्राउस के मिथिक संबंधी विश्लेषणों को पढ़ना कभी भी पर्याप्त नहीं था, यद्यपि वे सराहनीय रूप में 'स्पष्ट' किये गये हैं। इस प्रकार के कथनों से जो सबक सीखे जाने चाहिये वे इतने स्पष्ट हैं कि यदि मैं पाठकों को उनके हाल पर छोड़ दूँ तो वे आभारी होंगे।

उलट पक्ष भी कम शिक्षाप्रद नहीं है, यथा ऐसे दुर्लभ उदाहरण जिनमें कोई मौलिक टीका प्रस्तुत करने के स्थान पर अर्धनिर्णयात्मक पद्धति के रूप में किसी विशिष्ट व्याख्या की पुनर्रचना का प्रयास अधिक होता है (जिसकी वैज्ञानिक गुणवत्ता पूर्वस्वीकृत हो)। उदाहरणार्थ हम कृतियों (टैक्स्टों) के एक सेट को 'ट' और उनकी व्याख्याओं को जैसा कि एक वैज्ञानिक पत्रिका में एक विशेषज्ञ ने लिखा है, "संरचना

'स' मान लेते हैं : अब "स" को उत्पन्न करने के लिए "ट" पर प्रयुक्त विमर्शात्मक संक्रियाओं की श्रृंखला को परिभाषित करने के प्रयास इस आशा में किए जाते हैं कि इस रूप में प्राप्त ज्ञान से विश्लेषण के आकारिक आधार के साथ साथ इसकी वैधता की आनुभविक सीमाएं भी स्पष्ट हो जायेंगी। इस प्रकार के अध्ययनों की शुरूआत कृत्रिम बौद्धिकता के अनुसंधानों के साथ हुई है। ये ट→स की प्रक्रिया में शब्द अथवा शब्दों के समूहों के मध्य संभावित समस्त प्रकार के संबंधों को सूचित करने वाले बृहद् कोषों की आवश्यकता को ध्यान में लाते हुए ये उसकी तात्त्विक भूमिका की ओर संकेत करते हैं जिसके बिना ट से स तक के मार्ग के औचित्य को सिद्ध करना या समझ तक पाना सर्वथा असंभव है।[3]

इन स्थानीय बृहद कोषों की व्याख्या—अर्थात्, प्रत्येक के मूल में एक विलक्षण संरचना— का उद्देश्य हमारे परम माननीय टीकाकारों द्वारा प्रयुक्त ज्ञान के स्वरूप एवं विस्तार को उद्घाटित करना नहीं है, उद्देश्य केवल उन व्याख्याओं की तुलना के लिए संदर्भ का सुविधापूर्ण आधार प्राप्त करना है जो अन्यथा निराधार हैं : तब किन्हीं भी दो के अन्तर को अर्थ-सामग्री और तार्किक-संरचना की दृष्टि से मूल में सन्निहित बृहद्कोषों की विलक्षण विशेषताओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है (हम इस 'तर्क-शब्दार्थ-तंत्र'—लॉजिको सीमेन्टिक ऑर्गेनाइजेशन या और भी संक्षेप में, त श त संबोधित करते हैं, अर्थात् पुनः संरचित बृहद् कोष)। आगे, यदि कोई चाहे तो इन स्थानीय बृहद् कोषों को किसी एक अधिक विस्तृत कोष में समाहित कर सकता है, विशेष रूप से तब जबकि ये एक ही रचना की व्याख्याओं से व्युत्पन्न हों; इस प्रकार एक ओर अधिक त श त प्राप्त हो जाता है जिसमें ये सभी व्याख्याएं और अन्य जो भिन्न प्रकार की रचनाओं से लिए गए तत्त्वों के नए संयोजनों से उत्पन्न की गई हों, सम्मिलित हों। तब टिप्पणियों का रूपायण स्वरूपतः स्पष्ट हो जाता है अर्थात् संभावित निगमनों और आपादानों की संहति में संभावित चयनों की श्रृंखला जो ट से शुरू होकर संरचना स में समाप्त होती है और दूसरी बातों के साथ साथ यह चयन की प्रक्रिया ही अंततोगत्वा उसका आधार बनती है, के रूप में।

साहित्यिक रचनाओं से संबंधित हमारी खोज अंततः विभिन्न मार्गों से गुजरती हुई एक विशिष्ट निष्कर्ष पर पहुँचती है : इस विज्ञान में प्रयुक्त विधियां आश्चर्यजनक रूप से विलक्षण हैं, कम से कम दो अर्थों में। प्रथम तो ये इसलिए विलक्षण हैं कि ये तत्त्वतः अनगढ़ रहती हैं, वर्तमान में परिलक्षित शिक्षक और शिष्य की दूरी को देखते हुए अन्य विषय वस्तुओं के विज्ञानों की विधियों के संप्रेषण की दृष्टि से विस्तृत सहभागिता के विपरीत इनका संप्रेषण निश्चय ही कठिन है। ये विधियां अपने

परिणामों के कारण भी विलक्षण हैं, मानो इनका एक मात्र कार्य साहित्यिक रचनाओं के उतने ही अधिक विशिष्ट पाठों के लिए एक तार्किक आधार प्रदान करना था जितने अधिक टैक्स्ट अथवा कृतियों के विज्ञान में योगदान करने वाले हैं। इस संदर्भ में बोदलेयर का **लै शात्ज** का प्रसंग शिक्षाप्रद है : बीस वर्ष पूर्व क्लॉद लेवि स्ट्राउस और रोमन जैकोब्सन द्वारा किए गए अध्ययन के बाद तीस से अधिक अध्ययन इस छोटी सी कविता को समर्पित हो चुके हैं।[4] यद्यपि सबके सब किसी न किसी रूप में विश्लेषण की वैज्ञानिक विधि को निर्देशित करते हैं तथापि, किन्हीं दो अध्ययनों में कुछ भी समान नहीं है। फिर भी, इस अनेकत्व से हमारे वैज्ञानिक तनिक भी चिन्तित होते प्रतीत नहीं होते : विमर्श तो दूर विरोधी व्याख्याओं का उल्लेख भी मुश्किल से किया जाता है, कौनसा पठन पाठक को 'सर्वोत्तम' लगता है यह बात सुहृद रूप में उसके निर्णय अथवा उसकी शिष्ट रुचि पर छोड़ दिया गया है।

अब एक दूसरी कठिनाई इस प्रकार की संरचनाओं के ज्ञान-मीमांसीय स्तर को लेकर उठ खड़ी होती है। किसी एक विषय से उत्पन्न सिद्धान्तों अथवा विश्व भर के मतों में पायी जाने वाली विविधता विज्ञान में असंगति नहीं है; कठिनाइयां तब उत्पन्न होती हैं जब उनमें से किसी की सापेक्ष वैधता को परखने के लिए न तो साधन होते हैं और न ही फलतः 'सर्वोत्तम' के निर्धारण के लिए आधार जो हमारी शिष्ट रुचि अथवा निर्णय की तुलना में कम परिवर्तनशील हो। अच्छी या बुरी कृति अथवा टैक्स्ट के विज्ञान के मध्य हमारी स्थिति ऐसी ही है : हमारे पास आनुभविक मूल्यांकन की कोई ऐसी प्रणाली उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर हम विरोधी व्याख्याओं के वैज्ञानिक गुणावगुणों की तुलना (परीक्षण के अर्थ में) समग्र वस्तुपरकता के साथ कर सकें। इसका कारण संबंधित विज्ञान की विशिष्टता से है जो विलक्षण भी है अर्थात् इसके लक्ष्यों के प्रति हमारी अनभिज्ञता, विषय— मानवीय और साहित्यिक— की तुलना में अधिक संबंधित है। बोदलेयर की **लै शात्ज** संबंधी वैज्ञानिक संरचना का क्या उद्देश्य है ? स्पष्ट है कि हम जब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे लेते हम इसके मूल्य अथवा वैधता के विषय में कुछ नहीं कह सकते हैं।

इसका एक संभावित उत्तर, बहुत समय नहीं बीता, जी. ड्यूरां ने सुझाया था : साहित्यिक कृति की वैज्ञानिक टीका में रचना के भेदक घटक सभी स्तरों पर (वाग्मितीय, छंदशास्त्रीय, शब्दार्थ संबंधी, ध्वनिविज्ञानपरक) प्रकाशित होने चाहिये, और आनुभविक सत्यापन समान घटकों से 'कृत्रिम' कृतियों अथवा टैक्स्टों की रचना में निहित होना चाहिए, ताकि इनमें मूल कृति के सार या विशिष्ट गुणों की कुछ झलक मिल सके।[5] दूसरे शब्दों में, संरचना के संज्ञानात्मक मूल्यों का मापन उसकी

सृजनात्मक शक्ति और उसके 'प्रभावों' की प्रकृति से होगा, जैसे इस मामले में वे अनुकृतियाँ और जाली रचनाएं जिन्हें वास्तविक कृतियों से अलग कर पाना कठिन हो, किन्तु जो समालोचक, विद्वान अथवा जालसाज के असंप्रेषणीय ज्ञान अथवा कला के स्थान पर सुव्यक्त सिद्धांत की देन होंगी। इस दिशा में **लै शात्ज** के विशिष्ट लक्षणों से प्रारम्भ ड्यूरां का प्रयास जैकोब्सन और लेवी स्ट्राउस के मत में एक अनर्थ था। वस्तुतः किसी को भी आश्चर्य हुआ भी नहीं, बाद में कविता के अन्य पठन सामने आये, ये ऐसे अन्य लक्षणों पर आधारित थे जिनका प्रस्तावित कसौटी पर अपेक्षाकृत अच्छा साबित होने में संदेह है, और हमें तो ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि प्रतिस्पर्धियों के अभाव में क्यों न इस प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर दिया जाये।

और इस बात पर बहुत से आपत्ति उठायेंगे— यह ऊपर प्रस्तुत प्रश्न का दूसरा संभावित उत्तर है— कि मानव विज्ञानों के 'विशिष्ट' संदर्भ में इस प्रकार की कठोर अपेक्षाएं करना अन्यायपूर्ण है : हमारे विषय या घटनाएं क्योंकि भौतिक जगत से भिन्न प्रकार की मानी जाती हैं इसलिए इस संदर्भ में वैज्ञानिक रचनाओं के संज्ञानात्मक गुणों के मूल्यांकन के लिए भिन्न कसौटी की अभ्यर्थना करनी चाहिए। निश्चय ही, क्यों नहीं ? क्योंकि इस प्रकार के सुझाव के प्रति निर्बन्ध रहने के लिए विज्ञान के तरीकों के इस द्वैतवादी मत में हिस्सा लेना आवश्यक नहीं है : यदि 'कठिनतर' विज्ञानों के सामान्य परीक्षण अप्रयोज्य लगते हों तो हमारी एक मात्र आवश्यकता यह है कि कोई हमें यह बताए कि सामान्यतः मानव विज्ञानों में और विशेषतः साहित्यिक विज्ञानों में इन्हें किस प्रकार प्रतिस्थापित किया जाना है, कम से कम यह मानते हुए कि इस बिन्दु पर हमारे आग्रह को मान लिया जायेगा। दुर्भाग्य से खतरा यह है कि हम फिर भी असंतुष्ठ रह जायेंगे : विषय पर यथेष्ठ साहित्य उपलब्ध होने के बावजूद साहित्यिक व्याख्याओं के वैधीकरण की समस्या के वास्तविक कार्यकारी प्रत्युत्तरों के स्थान पर दार्शनिक या वाग्मितीय प्रकृति के केवल अस्पष्ट उत्तर प्राप्त हुए हैं— अर्थात् मेरा कहना है कि जैसा हम किसी दूसरे विज्ञान में करते हैं वैसे ही कृतियां या टैक्स्ट के विज्ञान में भी हमें करना होगा, अर्थात् वैधीकरण के प्रस्तुत सिद्धांतों से वास्तविक पद्धति पर आना जो एक कठिन कार्य है। इससे भी अधिक, हमारे असमंजस का यह वाग्विस्तार स्वयं एक प्रमाण है यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता हो : कोई भी इस प्रश्न को निरन्तर नहीं उठायेगा यदि उसके ऐसे उत्तर प्राप्त हो चुके हों जिनमें विपरीत व्याख्या के मध्य की अनिर्णय की विशिष्ट स्थितियों, जो कृतियों के विज्ञान में निरंतर वृद्धिशील संख्या में उत्पन्न होती रहती हैं, से 'प्रयोग क्षेत्र में' निबटने के लिए प्रयोज्य कसौटी अथवा विधियों को किसी भी रूप में परिभाषित किया गया हो।[6]

ऐसा नहीं होने पर साहित्य के बहुपठनों की ओर लौटना होगा, किन्तु इस बार सिद्धान्त की अनिवार्यता के रूप में संपुष्ट और यथासंभाव्य प्रचण्डता के साथ। क्योंकि ऐसा करते हुए हम वैज्ञानक विश्लेषण की ऐसी पद्धति की कभी न संजोयी गयी आशा को त्यागते हैं जिसके परिणाम पारंपरिक अर्थनिरूपणों से परिभाषया 'श्रेष्ठतर' होंगे। इसलिये विचार विमर्श को बहुवाद के सहिष्णु विस्तार की ओर मोड़ देना चाहिए : जैसा कि कुछ लोगों का मानना है क्या यह 'अनन्त' है— ऐसे में व्याख्या के विज्ञान की परियोजना की स्थिति निराशाजनक प्रतीत होती है—अथवा केवल 'सीमित' है जैसा कि अन्य स्वीकारेंगे ताकि परियोजना को यथासंभव बचाया जा सके?[7] कुछ भी हो, कृति के विश्लेषण के क्षेत्र में पिछले बीस वर्षों में कठोर पण्डित एवं उत्साही प्रेमियों ने जिस वैज्ञानिक आकांक्षा को अब जैसे-तैसे पल्लवित किया है हम उसके नजदीक भी नहीं पहुंचे हैं : श्रीमान् द ला पालिस तो कहते हैं कि बहुलता तो केवल एकल विषयों पर लागू हो सकती है, और इस प्रकार के विषयों के विज्ञान की संरचना भी कल्पना से बाहर है जब तक हम अपवादों को नियंत्रित करने वाले नियमों की तलाश में एक अन्य महान् विचारक जैरी का अनुगमन नहीं करें।

तथापि यह अप्रत्याशित कुतूहल का विषय है कि यह वही है जो अंत में अवतरित संप्रदाय जो 'अर्थ क्रिया विज्ञान' का नाम लिये है— में मिलता है। यह परिणाम तो होना ही था : चार्ल्स मौरिस के अनुसार संकेतों के सिद्धान्त के त्रिपक्षीय विभाजन का अनुसरण करते हुए हमारे नव संकेत वैज्ञानिकों[8] ने पहले प्रथम आयाम (वाक्य विन्यास) की, फिर किसी के पठन के आधार पर साहित्यिक कृति की विशिष्टता के वर्णन के तरीके के रूप में दूसरे आयाम (शब्दार्थ) की कमियों को क्रमशः उद्घाटित किया। शेष रहा तीसरा आयाम (अर्थ-क्रिया) जिसने कृति के 'व्याख्याकार', अर्थात् उसके पाठक को संकेत विज्ञान प्रणाली में शामिल होने का सांकेतिक लाभ प्रदान किया। व्याख्याकार की इस अवधारणा को वास्तव में सी.एस. पर्स ने 1905 में अर्थक्रियावाद की प्रसिद्ध परिभाषा में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया था।[9] इस अवधारणा में किसी कृति के अर्थ में उसके पाठकों के विचार और व्यवहार पर पड़ने वाले 'प्रभावों' का समावेश निहित है। कोई भी हमारे नवसंकेत वैज्ञानिकों के हितों का पोषण इससे बेहतर तरीके से नहीं कर सकता था : अब वे पेखम द्वारा उठाई गई 'बहुवाद की अनन्तता' पर विचार करने के हकदार हो गये हैं या इस प्रक्रिया में जुट भी गए हैं (देखें टिप्पणी 7)। इस उदारता के लिए उन्हें वैज्ञानिक गरिमा जैसा कुछ खोना भी नहीं पड़ा, जहां तक चार्ल्स पर्स के संकेतन और चार्ल्स मौरिस का संकेत विज्ञान स्वयं में विज्ञानों का विज्ञान अथवा 'एकीकृत विज्ञान' कहे जाते हैं।

नव–अर्थक्रिया विज्ञान (सादृश्यता से) इस प्रकार प्रचलित अध्ययनों को गरिमायुक्त नाम देने के नए तरीके के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो पूर्णतः सम्माननीय है किन्तु जिनके अपने समय में संरचनात्मकतावाद और संकेत विज्ञान से अधिक साहित्यिक कृतियों के विज्ञान के रूप में अर्हकर होने की कोई गुंजाइश नहीं है, कारण वही है : कोई भी एक ही बार में इतने अधिक लक्ष्य नहीं बना सकता है।[10] दूसरे शब्दों में, क्योंकि साहित्यिक विश्लेषण में अनगिनत व्याख्याओं की संभावना है— जैसा कि उम्बर्टो एको द्वारा पुनर्निरीक्षित की गई पर्स की संकेत प्रक्रिया है[11]– विज्ञान का एकमात्र वह रूप जिसके विज्ञान होने का हम दावा कर सकते हैं एक प्रकार से पश्चोन्मुखी है : जब तक पाठक अपना कार्य पूर्ण नहीं कर लेते हमें कार्य आरम्भ करने के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिये इस स्थिति में उत्पन्न सिसीफीय यंत्रणाओं से बचने के लिए जो कूट चालें इधर–उधर कल्पित की गई हैं उनसे प्रकट होता है कि कुछ लोग यह जान गये थे कि किस बिन्दु पर यह अक्षम है : प्रत्येक नए पाठक के साथ कार्य की पुनरावृत्ति से बचने के लिए हमें अनेक प्रकार के नामों से एक काल्पनिक पाठक को उत्पन्न करना होगा ताकि साहित्य विज्ञान इस विशिष्ट पाठक के व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित कर सके।[12] इस प्रकार की युक्ति की कमजोरी स्पष्ट है : किसी भी विशिष्ट पठन को अन्य अधिक आनन्द दायक पन्नों की तुलना में अरुचिकर या पुराना या भ्रामक करार देना वैधानिक है, अतः हम फिर उस ही 'अनियतता की शब्दार्थ मीमांसा' की ओर धकेल दिये जाते हैं जो जी. हार्टमान की दृष्टि में साहित्य समालोचना अथवा विज्ञान की वास्तविक नियति है।[13]

समालोचना (परम्परागत) अथवा विज्ञान (आधुनिक) के पारस्परिक भेद पर कुछ लोगों ने जो इतना अधिक बल दिया है उसका अंततः कोई ज्ञान–मीमांसीय आधार नहीं निकला। कुछ की अलंकारिक स्वेच्छाचारिता अन्यों के विश्लेषणात्मक भावावेश से न तो श्रेष्ठ है और न ही निकृष्ट और वर्तमान स्थिति में इनमें से किसी को भी मूल विज्ञान की अभिव्यक्तियां मानने का कोई औचित्य नहीं है। कृतियों के विज्ञान के स्थापित होने और समस्त प्रकार की साहित्यिक टीकाओं से ऊपर उठने के लिए हमें सर्वप्रथम किसी प्रदत्त विश्लेषण तंत्र के आंतरिक मूल्यों के प्रचलित अपर्याप्त संदर्भों से हट कर अन्य रूप में इसके अर्थ की स्पष्ट व्याख्या करनी आनी चाहिये। पूर्व में मैने एक संभावित दिशा सुझायी थी किन्तु इस शर्त पर कि व्याख्यात्मक रचना की उसकी भविष्य कथन शक्ति अथवा प्रजनक शक्ति के मूल्यांकन द्वारा वैधीकरण की अब तक उपेक्षित अथवा अस्वीकृत मांग को स्वीकार करें, (देखें टिप्पणी 5); किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी इस क्षेत्र में वर्तमान में जितनी बौद्धिक कीमत चुकाने को हम प्रवृत्त अथवा आदी हैं उससे कहीं अधिक अपेक्षित हैं।[14] ऐसे में,

बुद्धि, मितव्ययिता और ईमानदारी का यह तकाजा होगा कि हम साहित्यिक व्याख्याओं के पारंपरिक नियमों पर लौट जायें या उन्हीं पर टिके रहें जिनके लिए वैज्ञानिक संरचना के निर्माण के लिए अपेक्षित योग्यताओं से भिन्न प्रकार की योग्यताएं चाहियें, यद्यपि अब यह विधि आमतौर पर नहीं अपनाई जाती है।

पाद टिप्पणियाँ एवं पुस्तक संदर्भ

1. जे. एस. पटोयफी और सी. राइसर, **स्टेडीज इन टैक्स्ट ग्रामर,** डोरड्रैख्ट, राइडल, 1973, पृ. 1.

2. एम. ए. बरनियर और पी. रेम्बो, **ले रोलाँ बार्थ साँ पैन,** बालाँ, 1978.

3. साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण के लिए जे. नटाली का अध्ययन सर्वाधिक शिक्षाप्रद अध्ययनों में से एक है, **'सेशा ए लानालीज़े पोएतीख़** : अ प्रोपोज दे कृतीक दे शात दे बोदलेयर', जे. सी. गार्दें तथा अन्य, द्वारा **ला लॉजीक द्यू प्लॉजीब्ल,** में पैरिस, एदीस्यों दे ला मेयज़ों दे सीएंस दे लॉम, 1981, पृ. 95–145; तथापि आजकल इस प्रकार का प्रयोग, कई ऐतिहासिक कारणों से, पुरातत्त्व के क्षेत्र में बहुत उन्नति पर है, भौतिक पदार्थों (स्थलों, स्मारकों, कलाअवशेष) के विवरण प्रारंभिक कृतियों 'टी' की भूमिका अदा करते हैं, जबकि इन विषयों की व्याख्या रचना 'सी' के समकक्ष है। ऊपर वर्णित पुस्तक में विगत दस वर्षों से इस क्षेत्र में टी→सी प्रक्रिया पर हुए कार्यों का एक संपूर्ण चित्र प्राप्त होता है। एम. एस. लागराँज, **ला सिस्ते मेंतीजास्यों द्यू दिस्कूर आर्केलोजीक,** पृ. 239–303. एक ओर इस प्रकार समझे गए संरचनाओं के विश्लेषण तथा कृत्रिम बुद्धि के मध्य के, और दूसरी ओर साहित्यिक विश्लेषण तथा संकेतन विश्लेषण के मध्य संबंधों पर के लिए देखें जे. सी. गार्दें, उद्धृत पुस्तक, पृ. 59–85.

4. आर. जकोब्सन और लेवि स्ट्राउस, "ले शात्ज' दे बोदलेयर" **लोम,** खण्ड 2, 1962, पृ. 5–21। ऊपर नटाली द्वारा उद्धृत अध्ययन में **'ले शात्ज'** पर की गई 28 टीकाओं की सूची दी गई है, इनमें से अधिकांश 1962 से 1973 के बीच प्रकाशित हुई हैं, उसकी इस सूची में परिवर्धन अभी भी जारी है (पृ. 140–43).

5. जी. ड्यूराँ, 'लै शात्ज, लै रात ऐ ले स्त्रक्त्युलिस्त, सिम्बोल ए स्त्रक्त्युलिज्म' **काये ऐंतरनसियोंनो दे सिम्बोलिस्म,** सं. 17–18, 1969, पृ. 13–38. ऐसा ही एक दृष्टिकोण विकसित किया गया एक न्यूनाधिक काल्पनिक कविता— **'लै रात'** बेपनिस्तें द्वारा प्रस्तुत की गई थी— जे. सी. गार्दें में, **ले अनेलीज़े दे दिस्कूर,** नोय शेतिल, देलाशो और नीस्ले, 1974, पृ. 18–38.

6. साहित्यिक अध्ययनों में वैधता की विषय वस्तु से संबंधित असंख्य निबन्ध हैं। ई. डी. हर्ष की कृति, **वैलेडिटी इन इंटरप्रेटेशन,** न्यू हैवन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1967, संदर्भ के लिए उपयुक्त है। हाईडेगर की प्रसिद्ध 'हरमैनोयटिक सर्किल' इन्हीं विचारों की अनन्त पुनरावृत्तियों से पृथक नहीं है, वास्तव में, जैसा कि पी. रिकअर ने सुझाया है, ऐतिहासिक प्रभाविता पर आधारित कृतियों के अन्यवयन की वैधता के मामने में हरमैनोयटिक आई है। एच. जी. गेडेमर का अनुसरण करते हुए 'ला तैशे देल्पैरमे नॉयतीख़', **एक्सेजेसीज : प्राब्लेम् दे मैथोड ए एक्सरसीसे दे लैक्त्युर** में एफ. बोवों और जी. रूइये, नोयशैतिर, दिलाशॉ ओर नीस्ले द्वारा संपादित 1975 पृ. 179–200; अथवा पुनः रिकर के अनुसार (केसकाँ न तैक्स्त ? एक्सप्लकर ए काँप्रांद्र, **हरमैनोयटिक उण्ट डियालैकिट्क,** खण्ड 2 आर. बूदनेयर आदि द्वारा संपादित, तुबिन्जन, मोर, 1970 में, पृ. 181–200) यह पाठक के उस 'अनुभव' जो अंततः व्याख्या के 'हरमैनोयटिक आर्क' का आधार बनेगा, के द्वारा और भी अधिक सरल है। हम स्पष्टतः सत्यापन की उन अंतराविषयक पद्धतियों से बहुत दूर हैं जो प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होती हैं और निस्संदेह जो स्वयं भी 'अनुभव' व 'प्रभाविता की चेतना' पर आधारित हैं; अंतर केवल इतना है कि यहां सहमति का दायरा अधिक विस्तृत है।

7. **क्रिटिकल एन्क्वायरी,** खण्ड 3, सं. 3 (1977) के अंकों में और इसके बाद के अंकों, विशेषकर एम. पेखम के 'द इनफिनीट्यूड ऑफ प्ल्यूरलिज्म, **'क्रिटीकल एनक्वायरी,** खण्ड 3, सं. 4 (1977), पृ. 803–816 में 'बहुवाद की अनन्तता' पर विमर्श देखें।

8. श. डब्ल्यू, मौरिस, 'फाउंडेशन्स ऑफ द थ्योरी ऑफ साइंस', इंटरनेशनल एनसायक्लोपीडिया ऑफ युनिफाइड साइंस, 1, 2 शिकागो, युनि. ऑफ शिकागो प्रेस, 1938. मैंने समस्त प्रकार के मानवीय विषयों अथवा घटनाओं के अपने उन आधुनिक विशेषज्ञों के लिए 'नव संकेत वैज्ञानिक' पद प्रस्तावित किया है जो स्वयं

को 20वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में उन संकेत विशेषज्ञों के विपक्ष में रख कर संकेत विज्ञान का विशेषज्ञ मानते हैं जो मानवीय विज्ञानों तक संदिग्ध रूप से प्रतिबंधित रहने की अपेक्षा विज्ञान में विकसित संकेतों की प्रणालियों के अध्ययन (सीधे विषयों के अध्ययन के स्थान पर) को दृष्टि में रखे हुए थे : जे. सी. गार्दे, **ले जानालीज़ दे दिस्कूर,** न्यू शातल, दिलाशो एण्ड नैस्ली, 1974, पृ. 48–55.

9. **द कलैक्टेड पेपर्स ऑफ चार्ल्स सैन्डर्स पर्स,** खण्ड 5, 434, संपादक– चार्ल्स हार्ट शोर्न और पी. वाइस, 6 खण्डों में, कैम्ब्रिज, मास (साथ में खण्ड 7 और 8, संपादक– ए. बर्क्स, 1958).

10. अर्थक्रियावाद के लक्ष्य अनगिनत हैं। मूल कृतियों के अतिरिक्त समस्त प्रकार के 'प्रसंग' हैं जिनके आधार पर नव संकेत वैज्ञानिक किसी साहित्यिक कृति और उसके लिए उसके विशिष्ट अर्थ या मूल्य की 'व्याख्या' कर सकता है (उदाहरण के लिए **एत्यूद फिलोसोफीक ए लैंग्वस्तीख़ द प्रगमतीख** में एच. पैरे 'ले लैंगवेज ऐं कोन्तैक्स्त' एमस्तरदम, बैंजामिन, 1980 देखें) जहां तक इन अभ्यासों से शैक्षिक प्रस्तुतियों की विषय सामग्रियों का निर्माण होता है हमारा यह सोचना सही होगा कि वे किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं, यथा पैरे द्वारा बेहिचक प्रस्तुत— 'विमर्शात्मक संरचना का सिद्धांत' (सिक) (पूर्वोक्त कृति का पृ. 189); दुर्भाग्य से इस निरूपण की विचित्र बात यह है कि इस संपूर्ण परियोजना के प्रति संदेह उत्पन्न करने के लिए तार्किक आधार ही पर्याप्त है।

11. यू. ईको, **द रोल ऑफ दी रीडर : एक्स्प्लोरेशन्स इन द सिमियोटिक्स ऑफ टैक्स्ट,** ब्लूमिंगटन, इंडियाना यूनीवर्सिटी प्रैस, 1979.

12. इस विषय वस्तु पर क्रिश्चियन ब्रुक रोज द्वारा किया गया शिक्षाप्रद सर्वेक्षण **'ए र्‌हीटोरिक ऑफ द अनरीयल,** पृ. 31 देखें, इसमें क्रमशः इनका उल्लेख हुआ है— डब्ल्यू. सी. बूथ का 'अंतर्भावी पाठक' (1961)— डब्ल्यू. आईशर ने भी इसका प्रयोग किया है (1974) रिफ़ातेरे (1966) का 'उच्च कोटि पाठक', एस फिश (1970) का 'सुविज्ञ पाठक', जे. कुलर (1975) का 'अर्हता प्राप्त पाठक', और यहां तक कि 'वास्तविक पाठक' जिस पर बाद में ये अंतिम लेखक

जे. कुलर (180) प्रभावी रूप में प्रस्तावित व्याख्याओं की रचनान्तरण परक व्याकरण के अपने तर्क में लौटे हैं और बिना इतना आगे बढ़े कि स्वयं इस अप्रशंसित कार्य का भार उठाते, जैसा कि श. ब्रुकरोज विनोदपूर्वक लिखते हैं (पृ. 32).

13. जी. हार्टमान, **क्रिटीसिज्म इन द वाइल्डरनैस,** न्यू हैवन, पैल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1980, पृ. 41.

14. इच्छानुरूपी समाधानों को छोड़कर (जैसा कि कुलर का उदाहरण है जिसका उल्लेख पाद टिप्पणी 12 के अंत में हुआ है) मेरी जानकारी में इस दिशा में साहित्यिक अध्ययनों में कोई प्रभावी कार्य नहीं हुआ है। अपवाद हैं— जे. मोलीनों इत्यादि, 'स्युर ल तीत्र दे रोमान् द ज्यां ब्रूस', **लांगेग,** खण्ड 35, पृ. 86–94; जे. सी. गार्दें इत्यादि, **ला लॉजीक द्यु प्लॉसीब्ल,** में पृ. 147–238, पैरिस, एदीसियों दे ला मेयजों दे सिआंस देलोम 1981 में, 'ऐत्रोडिक्स्यों ए लानालीज़ सिमियोलॉजीक दे मक्सीम दे ला रोशे फुकूल' तथापि संगीत शास्त्र के क्षेत्र में हमें जे. जे. नातिएस के समानान्तर और ऐतिहासिक रूप में संबद्ध प्रोग्राम जिसकी स्थापना उसने मांट्रियल विश्वविद्यालय में की थी और जिसे 'सैमियोलोजि ऐ तानालीज म्यूजिकाल' नामक संकलन में चित्रित किया गया है, को अवश्य उद्धृत करना चाहिए : संकलन का प्रथम खण्ड सैद्धांतिक संरचना पर एक रोचक प्रयास है जो जे. एस. बाख़, एम. बारोनी और सी. जेकोबोनी, **प्रोपोजल फार ए ग्रामर ऑफ मैलोडी,** यूनिवर्सिटी ऑफ मांट्रियल प्रेस, 1978 की शैली में अपने उत्पादनों द्वारा सत्यापनीय है। ये उदाहरण और पूर्व में उद्धृत पुनः संरचना के अभ्यास (टिप्पणी 3) इस प्रकार के उपक्रम की जटिलता को इंगित करने के लिए पर्याप्त हैं, इसकी तुलना में मानवीय उत्पादनों—साहित्यिक, भौतिक, संगीत संबंधी—प्रचलित टीकाएं यदृच्छा से ग्रसित प्रतीत होती हैं।

दुष्ट